अष्टादशोऽध्यायः

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वाजः—स्वः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति के मन्त्रों का देवता 'यज्ञपुरुष'—यज्ञशील पुरुष था। यह प्रस्तुत मन्त्रों में यज्ञ के द्वारा पदार्थ की सम्पन्नता के लिए प्रार्थना करता है और कहता है कि **वाजश्च मे**=शक्ति मुझे यज्ञ के द्वारा प्राप्त हो। शक्ति के साथ **प्रसवश्च मे**=(सु=ऐश्वर्य) ऐश्वर्य भी मुझे प्राप्त हो। केवल ऐश्वर्य कुबेर के पास है और शक्ति 'यमराज' के पास है। मैं अपने में शक्ति व ऐश्वर्य का समन्वय कर पाऊँ। २. (क) इस ऐश्वर्य को कमाने के लिए **प्रयतिश्च मे**=मुझमें प्रकृष्ट पुरुषार्थ हो, यह पुरुषार्थ मुझे शक्ति-सम्पन्न करेगा। मैं पुरुषार्थ से ही धन कमाऊँ, जुए की ओर मेरा झुकाव न हो। **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**='पासों से न खेल, खेती कर'। 'प्रबन्ध' सातत्यवाला हो, यह वेद का उपदेश मुझे स्मरण रहे। **प्रसितिश्च मे**=(षिञ् बन्धने) मेरा यह प्रयत्न निरन्तर चलता जाए। मैं प्रयत्न में शैथिल्य न आने दूँ। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ यह भी कर सकते हैं कि ऐश्वर्य व शक्ति होने पर मैं कहीं विलास व आराम के मार्ग पर न चला जाऊँ। मेरा जीवन **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमवाला हो और उस संयम में **प्रसितिः**=मैं अपने को उत्तम व्रतों के बन्धनों में बाँधकर चलूँ। ३. इन्हीं नियमों में न फँस जाने के उद्देश्य से ही **धीतिश्च मे**=मुझमें प्रभु-सम्पर्क द्वारा (यज्ञ द्वारा) ध्यान की वृद्धि हो तथा **क्रतुश्च मे**=मुझमें ज्ञान की वृद्धि हो। मेरा जीवन ध्यानमय और ज्ञानमय हो। ४. ध्यान व ज्ञान के द्वारा **स्वरश्च मे**=(स्वयं राजते इति स्वरः, स्व+राज्+ड) मुझमें स्वयं राजमानता हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीवन न बिताऊँ, और **श्लोकश्च मे**=मुझे यश-ही-यश प्राप्त हो, इन्द्रियों का दास बनकर ही मैं अपयश का भागी होता हूँ। ५. **श्रवश्च मे**=मुझमें श्रवण का सामर्थ्य हो और उस श्रवण-सामर्थ्य से ज्ञान को बढ़ाते हुए **श्रुतिश्च मे**=मैं वेद को अपना बना पाऊँ। यह ज्ञान ही तो मेरे 'स्वर' बनने में व स्वर बनकर यशस्वी बनाने में सहायक होगा। ६. इस वेदज्ञान को अपनाने से **ज्योतिश्च मे**=मुझे प्रकाश प्राप्त होगा और उस प्रकाश में मार्ग-भ्रष्ट न होने से **स्वश्च मे**=मुझे सुख प्राप्त हो अथवा मैं उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति परमात्मा को पानेवाला बनूँगा।

भावार्थ—यज्ञेन=प्रभु-सम्पर्क द्वारा यज्ञ **मे**=मेरे लिए **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्राणः—बलम्

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'स्वः'=सुख पर हुई है। उस सुख के लिए सब इन्द्रियों व शरीर का ठीक होना आवश्यक है। सुख का अर्थ ही सु+ख=इन्द्रियों का उत्तम होना है, अतः इन्द्रियों की उत्तमता व स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि **प्राणश्च मे**=मेरी प्राणशक्ति **यज्ञेन**=यज्ञ से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **अपानः च मे**=मेरी अपानशक्ति भी यज्ञ द्वारा सामर्थ्ययुक्त हो। प्राण मुझे सबल बनाएगा तो अपान मेरे दोषों को दूर करेगा। २. **व्यानश्च मे**=मेरा सर्वशरीरचारी व्यानवायु यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और मुझे सारे नाड़ी-संस्थान का स्वास्थ्य देनेवाला हो। **असुः च मे**=मेरे 'नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त व धनञ्जय' आदि विविध प्रवृत्तियों के कारणभूत मरुत् भी शक्तिसम्पन्न हों। इनके ठीक होने से मेरी सब चेष्टाएँ मपी-तुली हों। ३. **चित्तं च मे**=मेरा मानससंकल्प यज्ञ द्वारा सम्पन्न हो और उसके ठीक होने से **आधीतं च मे**=मेरा बाह्यविषयज्ञान भी ठीक हो, अर्थात् असु के ठीक होने से मेरी अन्तर व बाह्य सभी क्रियाएँ ठीक होंगी। ४. **वाक् च मे**=मेरी वाणी की शक्ति ठीक हो और **मनश्च मे**=मेरी मानसशक्ति बिलकुल ठीक हो। वाणी यहाँ सभी कर्मेन्द्रियों की प्रतीक है। मेरी सारी कर्मेन्द्रियाँ ठीक से कार्य करें। ५. कर्मेन्द्रियों के साथ **चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे**=मेरी देखने तथा सुनने की शक्ति ठीक हो। मेरी सब ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक काम करें। मैं इस जीवन में 'बहुद्रष्ट व बहुश्रुत' बन पाऊँ। ६. इस दर्शन व श्रवण से **दक्षश्च मे**=मुझे कार्य करने में दक्षता व चतुरता प्राप्त हो। मैं सब कार्यों को कुशलता से करनेवाला बनूँ **बलम् च मे**=मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। यह दक्षता व बल मुझे विजयी बनाएँ। ७. मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्ययुक्त हों।

भावार्थ—मैं प्राण से लेकर बल तक सब वस्तुओं को यज्ञ से सम्पन्न करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराडतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

ओजः—जरा

ओजश्च मे सहश्च मऽआत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूꣳषि च मे शरीराणि च मऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥३॥

१. पिछला मन्त्र 'बल' पर समाप्त किया था। उसी बल का विस्तार प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। **ओजः च मे**=मेरा ओज=(ओज to increase) सब प्रकार की वृद्धि की कारणभूत शक्ति यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो तथा **सहश्च मे**=मुझमें सहनशक्ति हो। प्रकृति का ठीक प्रयोग करता हुआ मैं ओजस्वी बनूँ। ओजस्वी बनकर भौतिक व्याधियों को जीत पाऊँ तथा जीवों के साथ बर्ताव के लिए मुझमें सहनशक्ति हो। २. **आत्मा च मे तनूः च मे**=मैं आत्मा की शक्ति का वर्धन करूँ तथा शरीर की शक्ति का भी विकास करूँ। ऐहिक व आमुष्मिक सुख के लिए दोनों का समन्वय आवश्यक है। ३. **शर्म च मे वर्म च मे**=ज्ञान के द्वारा प्राप्त होनेवाला तथा वासनाओं की क्षीणता से प्राप्त होनेवाला सुख मुझे प्राप्त हो, जिससे मैं रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से बच पाऊँ। शर्मा बनूँ—वर्मा बनूँ= ब्राह्मशक्ति का विस्तार करूँ और क्षात्रशक्ति को बढ़ानेवाला बनूँ। इन शक्तियों के बढ़ाने पर **अङ्गानि च मे, अस्थीनि च मे**=मेरे हाथ आदि अवयव तथा सब अस्थियाँ यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न बनें। ५. **परूँषि च मे**=मेरी अंगुलियाँ आदि सब पर्व यज्ञ द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा **शरीराणि च मे**=मेरे स्थूल, सूक्ष्म व कारण—सभी शरीर ठीक हों, ६. **आयुः च मे**= मेरा सारा जीवन यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने और **जरा च मे**=मेरी वृद्धावस्था भी यज्ञ से शक्तिसम्पन्न बने,

अर्थात् वृद्धावस्था में भी मैं युवक की भाँति शक्तिसम्पन्न होकर कार्य करता रहूँ।

भावार्थ—मैं ओजस्वी बनूँ वृद्धावस्था तक युवक के समान शक्तिसम्पन्न बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ज्यैष्ठ्य+वृद्धि

ज्यैष्ठ्यं च म ऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मे ऽमश्च मे ऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को सशक्त बनाकर **ज्यैष्ठयं च मे**=मैं ज्येष्ठत्व का सम्पादन करनेवाला बनूँ और इसी ज्येष्ठता—सम्पादन के लिए **आधिपत्यं च मे**=मेरा आधिपत्य सम्पन्न हो, अर्थात् मैं इन्द्रियों, मन व बुद्धि का अधिपति बनूँ। २. इस आधिपत्य से **मन्युः च मे**=मेरा ज्ञान सशक्त हो तथा **भामः च मे**=तेजस्विता (Brightness, Lustre, Splendour) मुझे प्राप्त हो। ३. **अमः च मे**=मेरी प्राणशक्ति बल-सम्पन्न हो और **अम्भः च मे**=(तुष्टिः) मुझमें आत्मसन्तोष विकसित हो, अथवा सफलता (Fruitfulness) मेरी संगिनी बने। ४. **जेमा च मे**=मैं सदा विजयी बनूँ, जय-सामर्थ्य-सम्पन्न बनूँ और **महिमा च मे**=महत्त्व को प्राप्त करूँ। ५. **वरिमा च मे**=(उरोर्भावः)=प्रजादि से मैं विशाल बनूँ। **प्रथिमा च मे**=(पृथोर्भावः) मेरे गृह—क्षेत्रादि का भी विस्तार हो। ६. **वर्षिमा च मे**=(वृद्धस्य भावः) मुझे दीर्घ जीवन प्राप्त हो और **द्राघिमा च मे**=(दीर्घस्य भावः) मैं अविच्छिन्न वंशवाला, प्रजाओं से दीर्घकाल तक चलनेवाला होऊँ। ७. **वृद्धं च मे**=मुझे प्रभूत अन्न-धनादि प्राप्त हो और **वृद्धिः च मे कल्पन्ताम्**=विद्यादि गुणों से मेरा उत्कर्ष **यज्ञेन**=यज्ञ से, प्रभु के साथ मेल करने से सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं जीवन में ज्येष्ठता का सम्पादन करूँ। ज्ञानी व तेजस्वी बनूँ। प्राणशक्ति-सम्पन्न व आत्मसन्तोषवाला होऊँ। विजय व महत्त्व को प्राप्त करूँ, परिवार व सम्पत्ति से बढ़ूँ, दीर्घ जीवन व वंश—विस्तारवाला होऊँ। धन, विद्यादि गुणों से उत्कृष्ट बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

सत्य+सुकृत

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥५॥

१. गतमन्त्र की ज्येष्ठता के लिए आवश्यक है कि **सत्यं च मे**=मुझमें यथार्थ भाषण हो, **श्रद्धा च मे**=मेरा परलोक व प्रभु में विश्वास हो। २. इनके साथ भौतिक ज्येष्ठता के लिए **जगत् च मे**=जंगम गवादि धन मुझे प्राप्त हो, **धनं च मे**=और सुवर्णादि धातुएँ मुझे प्राप्त हों। ३. **विश्वं च मे**=वह सबमें प्रविष्ट प्रभु मेरा हो और **महः च मे**=प्रभु-सम्पर्क से प्राप्त होनेवाली तेजस्विता (महः=दीप्ति) मेरी हो। ४. महस्वाला बनकर मैं **क्रीडा च मे**=संसार के सब घटनाचक्र को क्रीडा के रूप में देखनेवाला बनूँ। **मोदः च मे**=और क्रीडा-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को सदा प्राप्त करूँ। ५. **जातं च मे**=मेरा भूतकाल में भी विकास हुआ हो और **जनिष्यमाणं च मे**=भविष्यत् में भी मेरा विकास हो। ६. **सूक्तं च मे**=मेरे मुख से सदा **सु-उक्त**=मधुर शब्द उच्चरित हों और **सुकृतं च मे**=मेरा पुण्य **यज्ञेन**=

प्रभु के संग से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं सत्य व श्रद्धादि से अपने को परिपूर्ण करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

ऋत+सुदिन

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च्य मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'सुकृतम्' पर थी। 'सुकृतम्' की ही व्याख्या प्रस्तुत मन्त्र में 'ऋत' शब्द से हुई है। **ऋतं च मे**=मेरे जीवन में 'ऋत' हो। ऋत वही है जो ठीक=right है। ठीक वही है जो ठीक स्थान व समय के अनुकूल है। इस ऋत के पालन से ही **अमृतं च मे**=मुझे अमृत की प्राप्ति हो। स्वाभाविक मृत्यु को छोड़कर जो रोगरूप मृत्यु हैं, उनसे मैं बचा रहूँ। मैं केवल 'जरा मृत्युवाला होऊँ। पूर्ण आयुष्य में होनेवाली जीर्णता से ही मेरा यह शरीर जाए। २. **अयक्ष्मं च मे**=ऋत के पालन से मुझमें धातुक्षयजनित रोग उत्पन्न न हों। **अनामयत् च मे**=सामान्य व्याधियों से राहित्य भी मुझे प्राप्त हो। ३. **जीवातुः च मे**=(येन जीवयति) जिससे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है वह पथ्य भोजन मुझे प्राप्त हो। **दीर्घायुत्वं च मे**=उस पथ्य भोजन के सेवन से मैं दीर्घ जीवन को प्राप्त करूँ। ४. इस दीर्घ जीवन के लिए ही **अनमित्रं च मे**=मेरी किसी से शत्रुता न हो और **अभयं च मे**=मैं अभय को प्राप्त होऊँ। मन में होनेवाली शत्रुता व भय की भावना शरीर पर भी घातक प्रभाव उत्पन्न करती है। ५. **सुखं च मे**=मैं शत्रुओं से भयरहित होकर सुखी जीवनवाला होऊँ। **शयनं च मे**=मैं सुख की नींद सो सकूँ। ६. रात्रि में सुखपूर्वक सोने के बाद मैं प्रातः तरोताज़ा होकर उठूँ और **सूषाः च मे**=मेरा प्रातःकाल बड़ा उत्तम हो। मैं अपने प्रातःकृत्यों को उत्तमता से सम्पादित कर सकूँ, तथा **सुदिनं च मे**=मेरा सारा दिन यज्ञदानाध्ययनादि युक्त होकर सुन्दरता से बीते। ऋत से प्रारम्भ होकर सुदिन तक मेरा सब-कुछ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हो।

भावार्थ—मैं ऋत के द्वारा अमृतत्व-अयक्ष्मत्व व अनामयत्व को सिद्ध करूँ। मेरा जीवन पथ्य-सेवन से दीर्घायु तक चले। शत्रुता व भय से रहित होकर मैं सुखी बनूँ एवं सुख की नींद सो सकूँ। मेरा प्रातःकाल उत्तम हो तथा सारा दिन सुन्दरता से व्यतीत हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

यन्ता—लयः

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥७॥

१. पिछले मन्त्र में 'सुदिन' पर समाप्ति हुई थी कि मेरा सारा दिन उत्तमता से बीते। यह उत्तमता से बीत तभी सकता है यदि मैं इन इन्द्रियाश्वों को आत्मवश्य करके विचरण करूँ, इसीलिए प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **यन्ता च मे**=(यन्ता=यन्तृत्व) मेरा आत्मा इस शरीर—रथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला हो और **धर्ता च मे**=इनको धारण करनेवाला बने। इन वाणी आदि इन्द्रियों को मन में धारण करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में धारण करने का अभ्यास करे। २. इस धारण से **क्षेमश्च मे**=मेरा कल्याण हो अथवा विद्यमान धन की रक्षणशक्ति मुझमें

हो। **धृतिः च मे**=आपत्तियों में भी मैं धीर व स्थिर चित्तवाला बनूँ। ३. **विश्वं च मे**=धैर्य के द्वारा मैं सम्पूर्ण संसार में प्रविष्ट परमात्मा को भी प्राप्त करूँ और **महः च मे**=मुझमें प्रभुपूजा की प्रवृत्ति हो। ४. **संवित् च मे**=प्रभु-पूजा से वेदशास्त्र-ज्ञान हमारा हो और, **ज्ञात्रं च मे**=मेरा विज्ञान-सामर्थ्य यज्ञ के द्वारा चमके। ५. **सूः च मे**=मुझमें प्रेरणाशक्ति हो। मैं अपने पुत्रादि को उत्तम प्रेरणा दे सकूँ और **प्रसूः च मे**=मुझमें उत्पादन-सामर्थ्य हो। ६. धनादि के उत्पादन के लिए **सीरं च मे**=हल मेरा हो। हल से भूमि को जोतकर मैं उत्तम धान्यों को प्राप्त करूँ और अन्त में **लयः च मे**=कृषि आदि के प्रतिबन्धों को विलीन कर कृषि को उन्नत करूँ। हमारी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा सम्पन्न हों।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों का नियमन करके उनको मन में धारण करें, जिससे अपने क्षेम का साधन कर सकें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शम्+यशः

शं च॑ मे॒ मय॑श्च मे प्रि॒यं च॑ मेऽनुका॒मश्च॑ मे॒ काम॑श्च मे सौमन॒सश्च॑ मे॒ भग॑श्च मे॒ द्रवि॑णं च मे भ॒द्रं च॑ मे॒ श्रेय॑श्च मे॒ वसी॑यश्च मे॒ यश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥८॥

१. पिछले मन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार कृषि करते हुए तथा कृषि में आनेवाले प्रतिबन्धों को निवृत्त करते हुए **शं च मे**=मुझे ऐहिक सुख प्राप्त हो और साथ ही **मयः च मे**=आमुष्मिक सुख भी मैं प्राप्त कर सकूँ। कृषि से मेरा जीवन इस प्रकार पुरुषार्थ का हो कि मैं व्यसनों से ऊपर उठा रहूँ। २. **प्रियं च मे**=मुझे सब प्रीत्युत्पादक वस्तुएँ प्राप्त हों। **अनुकामः च मे**=सब धर्मानुकूल काम मुझे प्राप्त हों। ३. **कामः च मे**=संसार के उचित आनन्द मुझे मिलें और **सौमनसः च मे**=मेरा मन सदा प्रसन्न रहे। ४. **भगः च मे**=मुझे सदा सौभाग्य प्राप्त हो। **द्रविणं च मे**=और कार्य-सञ्चालन के लिए आवश्यक धन भी मुझे प्राप्त हो। ५. **भद्रं च मे**=मुझे कल्याण व सुख प्राप्त हो तथा **श्रेयः च मे**=मैं मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **वसीयः च मे**=मुझे (अतिशयेन वस्तृ) निवास के योग्य वसुमान् गृह प्राप्त हो तथा **यशः च मे**=मुझे उत्तम कर्मों से होनेवाली कीर्ति प्राप्त हो। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन कल्पन्ताम्**=यज्ञ से सम्पन्न हों।

भावार्थ—मुझे इस लोक व परलोक का कल्याण प्राप्त हो। मुझे आवश्यक धन की कमी न हो और मुझे प्रसन्न मन व यश का लाभ हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्क् औद्भिद्यम्

ऊर्क् च॑ मे सू॒नृता॑ च मे॒ पय॑श्च मे॒ रस॑श्च मे घृ॒तं च॑ मे॒ मधु॑ च मे॒ सग्धि॑श्च मे॒ सपी॑तिश्च मे कृ॒षिश्च॑ मे॒ वृष्टि॑श्च मे॒ जैत्रं॑ च म॒ऽऔद्भि॑द्यं च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥९॥

१. **ऊर्क् च मे**=मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो तथा **सूनृता च मे**=(सु ऊन् ऋत) मेरी वाणी उत्तम, दुःख के परिहाणवाली तथा सत्य हो। २. इस शक्ति व मधुरवाणी की प्राप्ति के लिए **पयः च मे**=मैं दूध का प्रयोग करूँ और **रसः च मे**=फलों के रस का सेवन करूँ। ३. इसी उद्देश्य से **घृतं च मे**=मैं घृत का प्रयोग करूँ और **मधु च मे**=मैं शहद का सेवन करूँ। ४. इन वस्तुओं को मैं अकेला न खा लूँ, अपितु **सग्धिः च मे**=मेरा औरों के साथ मिलकर भोजन हो तथा **सपीतिश्च मे**=बन्धुओं के साथ मिलकर पीना हो। ५. इन

भोज्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए **कृषिः च मे**=मैं कृषि को अपनाऊँ तथा **वृष्टिः च मे**=कृषि की सफलता के लिए मुझे इष्ट वृष्टि प्राप्त हो। ६. **जैत्रं च मे**=(जेतुर्भावः) इस वृष्टिजनित कृषि से उत्पन्न पदार्थों का सेवन मुझे विजय-सामर्थ्यवाला बनाये और **औद्भिद्यं च मे**=इस विजय-सामर्थ्य के लिए आम्रादि वृक्षों की उत्पत्ति मुझे प्राप्त हो। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनाएँ।

भावार्थ—मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होऊँ और सूनृतवाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृच्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

रयि—अक्षुत्

रयिश्च॑ मे॒ रायश्च मे पुष्टं॑ च॑ मे॒ पुष्टि॑श्च मे विभु॑ च॑ मे॒ प्रभु॑ च॑ मे॒ पूर्णं॑ च॑ मे॒ पूर्णत॑रं च मे॒ कुय॑वं च॒ मेऽक्षि॑तं च॒ मेऽन्न॑ च॒ मेऽक्षु॑च्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१०॥

१. गतमन्त्र का प्रारम्भ 'ऊर्क्'=प्राणशक्ति की प्रार्थना से हुआ था, प्रस्तुत मन्त्र 'रयि' की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। **'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** प्रश्नोपनिषद् के इस वाक्य में प्राण और रयि का सम्बन्ध सुव्यक्त है। इन देवों के मेल से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। **'रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु'** इस वाक्य से रयि का सोम से सम्बन्ध है। मुझमें जहाँ ऊर्क्=प्राण हो वहाँ **रयिः**=सोमशक्ति भी हो। इस रयि के साथ **रायश्च मे**=मुझे वे धन भी प्राप्त हों, जिन्हें मैं उदारतापूर्वक दान कर सकूँ (राति दानकर्मणः)। २. **पुष्टं च मे**=मुझे धन का पोषण प्राप्त हो। जहाँ मैं आर्थिक दृष्टि से निर्बल न होऊँ वहाँ **पुष्टिश्च मे**=मुझे शरीर का पोषण भी प्राप्त हो। धन विलास द्वारा मेरी शारीरिक निर्बलता का कारण न बन जाए। ३. धन व शारीरिक बल प्राप्त करके **विभु च मे**=मुझे व्याप्ति-सामर्थ्य प्राप्त हो। मेरा हृदय विशाल हो और साथ ही **प्रभु च मे**=मुझे प्रभावशक्ति भी प्राप्त हो। मैं प्रभुत्व करने में समर्थ होऊँ। ४. **पूर्णं च मे**=इस प्रकार मैं धन व पुत्रादि की पूर्णतावाला होऊँ और **पूर्णतरं च मे**=गवादि पशुओं की पूर्णता भी मुझे प्राप्त हो। ५. **कुयवं च मे**=यह (कु) पृथिवी-सम्बन्धी **यव**=जौ मेरे हों तथा **अक्षितं च मे**=जिनसे नाश नहीं होता ऐसे धान्य मुझे प्राप्त हों। ६. **अन्नं च मे**=मुझे सब आवश्यक अन्न प्राप्त हों तथा **अक्षुत् च मे**=मैं भूखा न रह जाऊँ, मैं अन्न से तृप्ति का अनुभव करूँ।

भावार्थ—मुझमें रयिशक्ति हो तथा दान देने योग्य धन हो, मुझे धन व शरीर का पोषण प्राप्त हो। मैं अन्न का सेवन करूँ और भूखा न रह जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**श्रीमदात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

वित्त+सुमति

वित्तं॑ च॑ मे॒ वेद्यं॑ च मे भूतं॑ च॑ मे भवि॒ष्यच्च॑ मे सुगं॑ च॑ मे सुप॒थ्यं॑ च मऽऋ॒द्धंऽच॑ मऽऋद्धि॑श्च मे क्लृ॒प्तं च॑ मे॒ क्लृप्ति॑श्च मे म॒तिश्च॑ मे सुम॒तिश्च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥११॥

१. **वित्तं च मे**=ज्ञात वस्तु मेरी हो, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान मैंने प्राप्त किया है मेरा वह वस्तु-ज्ञान नष्ट न हो और **वेद्यं च मे**=जो जानने योग्य है उसे भी मैं जानने के लिए यत्नशील होऊँ। २. **भूतं च मे**=उस पूर्व ज्ञान द्वारा सिद्ध वस्तु तो मेरी हो ही **भविष्यत् च मे**=मैं आगे भी अन्य सफलताओं को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ३. ज्ञान के ही कारण **सुगं च मे**=मैं शोभन गमनवाला होऊँ और **सुपथ्यम् च मे**=शोभन हितकर भोजन ही खानेवाला

बनूँ। मेरा आहार-विहार दोनों उत्तम हों। ४. इस उत्तम आहार-विहार से **ऋद्धं च मे**=(ऋद्ध वृद्धौ) मैं सदा वर्धनवाला होऊँ **ऋद्धिश्च मे**=और धन की समृद्धिवाला बनूँ। ५. इस निरन्तर वर्धन व समृद्धि के द्वारा **क्लृप्तं च मे**=मुझमें उस-उस कार्य के लिए सामर्थ्य हो तथा **क्लृप्तिश्च मे**=कार्यक्षम साधन मुझे प्राप्त हों। अपने कार्यों की सिद्धि के लिए आवश्यक साधनों को मैं जुटा पाऊँ। ६. **मतिश्च मे**=इस सबके लिए मेरी मति ठीक हो—मैं पदार्थमात्र का ठीक निश्चय कर सकूँ। **सुमतिः च मे**=दुर्घट कार्यों में भी निश्चय कर सकने की मेरी शक्ति हो—मैं सब उलझनों को सुलझा सकूँ। मेरी ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=उस प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरा प्राप्त ज्ञान सुरक्षित हो और ज्ञातव्य को मैं जाननेवाला बनूँ। मैं इस जीवन में मति व सुमति का सम्पादन कर सकूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धान्यदात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

व्रीहि—मसूर

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१२॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति 'मति व सुमति' पर हुई थी। उस 'मति व सुमति' का सम्पादन करने के लिए मैं व्रीहि और यव आदि उत्तम ओषधियों का ही सेवन करूँ। मेरा भोजन वानस्पतिक ही हो। वनस्पति का अर्थ ही 'वन' ज्ञानरश्मियों का 'पति' रक्षा करनेवाला है। मांसाहार मनुष्य-स्वभाव को कुछ क्रूर बनानेवाला है। यह मनुष्य को स्वार्थी-सा बना देता है, अतः कहते हैं कि—

व्रीहयः च मे=मेरा भोजन चावल हों। **यवाः च मे**=मेरा भोजन जौ हों। २. **माषाः च मे**=मैं माषों=उड़द का प्रयोग करूँ और **तिलाः च मे**=तिलों को अपनाऊँ। ३. **मुद्गाः च मे**=मूँग मेरे भोजन का अङ्ग हों और **खल्वाः च मे**=चणों को मैं भोजन बनाऊँ। ४. **प्रियङ्गवः च मे**=कङ्गु मेरा भोजन हो और **अणवश्च मे**=चीनक मेरा भोजनाङ्ग बने। ५. **श्यामाकाः च मे**=ग्राम्य तृणधानों (कोदों) को मैं अपनाऊँ, **नीवाराश्च मे**=मैं आरण्य तृणधानों का सेवन करूँ। ६. **गोधूमाः च मे**=मैं गेहूँ को अपनाऊँ तथा **मसूराः च मे**=मसूर का सेवन करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से मेरे ये सब वानस्पतिक भोजन **कल्पन्ताम्**=मुझे सामर्थ्य-सम्पन्न बनानेवाले हों। मैं सदा शाकाहारी बना रहकर सशक्त बनूँ। अपनी ज्ञानरश्मियों को बढ़ाऊँ तथा प्रभु के समीप पहुँचनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा भोजन वनस्पति ही हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रत्नवान्धनवानात्मा**। छन्दः—**भुरिगतिशक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अश्मा+त्रपु

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहञ्च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१३॥

१. गतमन्त्र में विविध सेवनीय वनस्पतियों का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उन वनस्पतियों की उत्पत्ति-भूमियों का उल्लेख करते हुए विविध उपयोगी धातुओं का वर्णन करते हैं। **अश्मा च मे**=पथरीली भूमि मेरे **कल्पन्ताम्**=कार्यसिद्धि के लिए हो तथा **मृत्तिका च मे**=मैदानों की मिट्टी मेरे लिए उत्तम अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हो। २. **गिरयः च मे**=क्षुद्र पर्वत मेरे लिए हों तथा **पर्वताः च मे**=महान् पर्वत भी मेरे लिए विविध सेवनीय द्रव्यों के देनेवाले हों। ३. **सिकताः च मे**=शर्करा व बालुकामय प्रदेश मेरे हों तथा इन सब स्थानों में उत्पन्न होनेवाली **वनस्पतयः च मे**=वनस्पतियाँ मेरी हों। ४. इन वनस्पतियों के अतिरिक्त **हिरण्यं च मे**=इस भूगर्भ से प्राप्त होनेवाला सोना मेरा हो **अयश्च मे**=लोहा मुझे प्राप्त हो। ५. **श्यामं च मे**=ताम्रलोह (steel) मुझे प्राप्त हो तथा **लोहं च मे**=कालायस (ढलवाँ लोहा) मुझे उस-उस कार्य में सम्पन्न करे। ६. **सीसं च मे, त्रपु च मे**=मैं सीसे व रांगे को प्राप्त करूँ। **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=ये सब वस्तुएँ मेरे कार्यों को सिद्ध करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना मुझे 'सब भूमियों, वनस्पतियों व धातुओं' का सदुपयोग करनेवाला बनाये।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अग्नि-भूति

अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशवऽआरण्याश्च मे वित्तञ्च मे वित्तिश्च मे भूतञ्च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१४॥

१. गतमन्त्र में विविध भूप्रदेशों व धातुओं का वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में अग्नि आदि अन्य जीवनोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **अग्निः च मे**=अग्नितत्त्व मेरे लिए हो और **आपश्च मे**=मैं जलतत्त्व को अपनानेवाला बनूँ। ये दोनों तत्त्व मेरे विविध कार्यों को सिद्ध करें। मेरे स्वभाव में भी 'अग्नि व जल' का समन्वय हो, मुझमें उत्साह व शान्ति हो। मैं शक्ति व शान्ति का मेल करनेवाला बनूँ। २. **वीरुधः च मे, ओषधयः च मे**=मैं वीरुधः=फैलनेवाली बेलों पर होनेवाली वस्तुओं का प्रयोग करूँ तथा फलपाकान्त व्रीहि-यवादि ओषधियों को अपनाऊँ। ३. **कृष्टपच्याः च मे**=भूमि-कर्षण तथा बीज-वपन (हल चलाना, बीज बोना) आदि कर्मों से निष्पन्न ओषधियाँ मेरी हों, तथा **अकृष्टपच्याः च मे**=स्वयमेव उत्पद्यमान नीवार आदि वनस्पतियों को मैं उपजाऊँ। ४. इनके अतिरिक्त **ग्राम्याः च मे**=गौ, घोड़ा भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट आदि ग्राम्य पशु मेरे कार्य-साधक हों तथा **आरण्याः च मे**=अरण्य (वन) में होनेवाले हाथी, मृग, गव्य, बन्दर आदि भी मेरे उस-उस कार्य को सिद्ध करनेवाले हों। ५. इन सबके द्वारा **वित्तं च मे वित्तिः च मे**=प्राप्त धन मेरा हो तथा प्राप्तव्य धन को मैं प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **भूतं च मे भूतिः च मे**=माता-पितादि से प्राप्त धन मेरा हो तथा स्वार्जित भूति (ऐश्वर्य) का मैं मालिक होऊँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=मुझे शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—इस पृथिवी पर होनेवाले अग्नि, जलादि तत्त्व, बेलें, ओषधियाँ, ग्राम्य व आरण्यभोजन तथा सब पशु व धन मेरे लिए उपयोगी व सहायक हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**धनादियुक्तात्मा**। छन्दः—**निचृदार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वसु+गति

वसु॑ च मे वस॒तिश्च॑ मे॒ कर्म॑ च मे॒ शक्ति॑श्च मे॒ऽर्थश्च॑ म॒ऽएम॑श्च मऽइ॒त्या च॑ मे॒ गति॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१५॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर माता-पिता से प्राप्त धन व अपने कमाये हुए धन का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी धन के ठीक विनियोग के द्वारा उत्तम गृह व उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**वसु च मे**=निवास के लिए गौ इत्यादि सब आवश्यक वस्तुएँ मुझे प्राप्त हों। **वसतिः च मे**=मेरा सुन्दर निवास स्थान हो। 'यहाँ वसति शब्द छोटी-सी कुटिया' की भावना को लिये हुए है, अतः स्पष्ट है कि वेद बहुत बड़ी-बड़ी कोठियों के पक्ष में नहीं है। २. उस घर में रहता हुआ मैं **कर्म च मे**=अग्निहोत्रादि कर्मों को करनेवाला बनूँ। **शक्तिः च मे**=इन कर्मों में लगे रहने से मेरी शक्ति बनी रहे, अथवा कर्मों को करने की मेरी शक्ति स्थिर रहे। **अर्थः च मे**=मेरा प्रयोजन हो, अर्थात् मैं प्रत्येक कर्म को किसी प्रयोजन को सामने रखकर करूँ, मेरी कोई चेष्टा व्यर्थ न हो। **एमः च मे**=(ईयते=जाना जाता है) मेरे जीवन का एक उद्देश्य (Aim) हो। निरुद्देश्य जीवन में मनुष्य कभी उन्नत्ति नहीं कर सकता। ४. **इत्या च मे**=उस उद्देश्य की ओर मेरा निरन्तर चलना हो। **गतिः च मे**=(गति=to get) और निरन्तर चलते हुए मुझे उद्देश्य की प्राप्ति हो। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझे वसु व वसति की प्राप्ति हो। कर्मों द्वारा मैं शक्तिसम्पन्न बनूँ। मेरे कार्य निष्प्रयोजन न हों—जीवन निरुद्देश्य न हो। मैं उद्देश्य की ओर चलूँ और उसे प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अग्न्यन्नादिविद्याविदात्मा**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अग्नि+इन्द्र लक्ष्य (संख्या-१)

अ॒ग्निश्च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ सोम॑श्च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे सवि॒ता च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ सर॑स्वती च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे पू॒षा च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे बृह॒स्पति॑श्च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥१६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर लक्ष्य की ओर चलने व लक्ष्य को प्राप्त करने का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्रों में लक्ष्य का वर्णन करते हैं—**अग्निः च मे**=मुझमें अग्नितत्त्व हो। अपने को आगे और आगे बढ़ाने की वृत्ति हो। २. **सोमः च मे**=मैं सौम्य बनूँ। जितना-जितना आगे बढ़ता जाऊँ उतना-उतना विनीत होता चलूँ। वस्तुतः इस विनीतता से ही तो मैं आगे बढ़ूँगा। ३. **सविता च मे**=मैं प्रशस्त ऐश्वर्यवाला बनूँ। निर्माण (Production) के कार्यों के द्वारा मैं धन का सम्पादन करनेवाला बनूँ और साथ ही ४. **सरस्वती च मे**=प्रशस्त बोध व शिक्षायुक्त वाणीवाला मैं होऊँ। ५. **पूषा च मे**=शरीर का मैं सभी दृष्टिकोणों से पोषण करूँ और ६. **बृहस्पतिः च मे**=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी, ज्ञानियों का भी ज्ञानी—मैं देवगुरु बन सकूँ। ७. उल्लिखित प्रार्थनाओं में प्रत्येक प्रार्थना के साथ 'इन्द्रश्च मे' ये शब्द जोड़े गये हैं। उसका अभिप्राय स्पष्ट है कि मैं 'इन्द्र' जितेन्द्रिय बनूँ। जितेन्द्रियता से ही जीवन का मन्त्र-वर्णित लक्ष्य पूर्ण हो सकता है। जितेन्द्रिय बनकर ही मैं 'अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा व बृहस्पति' बन सकूँगा। जितेन्द्रियता वह केन्द्र

है जिसके चारों ओर सभी सद्गुण परिधि के रूप में होते हैं। ये सब गुण **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=मुझे समर्थ बनाएँ।

भावार्थ—मेरा जीवन-लक्ष्य 'आगे बढ़ना, सौम्य बनना, उत्पादनात्मक कार्यों से ऐश्वर्य प्राप्त करना, प्रशस्त बोधवाला होना, शरीर का ठीक पोषण करना व ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनना हो।'

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**मित्रैश्वर्यसहितात्मा**। छन्दः—**स्वराट्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

मित्र+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-२)

मित्रश्च मऽइन्द्रश्च मे वरुणश्च मऽइन्द्रश्च मे धाता च मऽइन्द्रश्च मे त्वष्टा च मऽइन्द्रश्च मे मरुतश्च मऽइन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवाऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१७॥

१. **मित्रः च मे**=मुझमें स्नेह की भावना हो। प्रेम के मैं पास होऊँ। २. **वरुणः च मे**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँ। द्वेष से सदा दूर रहूँ। ३. **धाता च मे**=मैं सदा धारण करनेवाला बनूँ। मेरे कर्म धारणात्मक हों। ४. **त्वष्टा च मे**=मैं देवशिल्पी बनूँ। निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहकर मैं अपने अन्दर दिव्य गुणों का निर्माण करूँ। ५. इन दिव्य गुणों के निर्माण के लिए **मरुतः च मे**=ये मरुत् मेरे हों। मरुतः प्राणाः=प्राणों की साधना करनेवाला मैं बनूँ। ६. इस प्राण-साधना से **विश्वे च देवाः मे**=सब देव मेरे हों। प्राण-साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होकर दिव्यता का सञ्चार होता है। मेरी ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मेरे जीवन का लक्ष्य 'स्नेह, द्वेष-निवारण, धारण, निर्माण तथा प्राण-साधना द्वारा दैवी सम्पत्ति का अर्जन' हो, परन्तु यह सब होगा तो तभी जब कि **इन्द्रः च मे**=मुझ में इन्द्रत्व होगा, अर्थात् मैं जितेन्द्रिय बनूँगा।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**राजैश्वर्यादियुक्तात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरीः**। स्वरः—**धैवतः**॥

पृथिवी+इन्द्र (लक्ष्य संख्या-३)

पृथिवी च मऽइन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च मऽइन्द्रश्च मे द्यौश्च मऽइन्द्रश्च मे समाश्च मऽइन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च मऽइन्द्रश्च मे दिशश्च मऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१८॥

१. **पृथिवी च मे**=पृथिवी मेरी हो। (प्रथ विस्तारे) मेरा शरीर विस्तृत शक्तियोंवाला हो (पृथिवी शरीरम्) २. इसके लिए **अन्तरिक्षं च मे**=अन्तरिक्ष मेरा हो, मैं सदा मध्यमार्ग में चलूँ। (अन्तरा क्षि) अति को छोड़कर मैं शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनानेवाला बनूँ। ३. मध्यमार्ग में चलने की वृत्ति के विकास के लिए **द्यौः च मे**=यह द्युलोक मेरा हो। मेरा मस्तिष्करूप गगन विज्ञान के नक्षत्रों से व ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान हो। यह ज्ञान ही मेरी भावनाओं को पवित्र करेगा। ४. **समाः च मे**=(संयान्ति=सह भवन्ति ऋतवो अमासु) मेरा जीवन 'समाः' को अपनाये। **समाः**=वर्ष में जिस प्रकार सब ऋतुओं का निवास है उसी प्रकार मेरे जीवन में ऋतुओं की भाँति नियमित गति का निवास हो और छह ऋतुओं की भाँति मेरा जीवन 'शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा-समाधान' इस षट्कसम्पत्तिवाला हो। वर्ष में छह ऋतुएँ, मुझमें ये छह सम्पत्तियाँ। ५. **नक्षत्राणि च मे**=ये सब नक्षत्र मेरे हों। ये (नक्ष गतौ) निरन्तर गतिशील हैं, मेरा जीवन भी सदा गतिशील हो। (न क्षीयन्ते) गतिशीलता ही मेरी अक्षीणता का कारण बने और अन्त में ६. **दिशः च मे**=ये सब दिशाएँ

मेरी हों। मैं इनसे क्रमशः आगे बढ़ने (प्राची—प्र अञ्च), दाक्षिण्य प्राप्त करने (दक्षिणा), अथवा नम्र बने रहने (अवाची अव् अञ्च), प्रत्याहार (प्रतीची प्रति अञ्च) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने तथा ऊर्ध्वगतिवाला होने (उदीची उद् अञ्च) का उपदेश ग्रहण करूँ। मेरी ये सब भावनाएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों और मैं इन सब बातों को पूर्ण रूप देने के लिए 'इन्द्रः च मे' मैं जितेन्द्रिय बना रहूँ।

भावार्थ—मैं शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, मध्यमार्ग में चलूँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करूँ, षट्क-सम्पत्ति को प्राप्त करूँ, निरन्तर क्रियाशील होऊँ और दिशाओं के उपदेश को ग्रहण कर 'आगे बढ़ूँ, नम्र बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पदार्थविदात्मा**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अंशु-मन्थी (सोम ग्रहविशेषाः)

अꣳशुश्च मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च मऽ उपाꣳशुश्च मेऽन्तर्यामश्च मऽऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च मऽआश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥१९॥

१. **अंशुः च मे**=मेरा जीवन चन्द्र-किरणोंवाला हो। चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव-वाला मैं बनूँ। **रश्मिः च मे**=मेरे जीवन में सूर्यरश्मियों का स्थान हो। मेरा मस्तिष्करूपी द्युलोक ज्ञान के सूर्य से जगमगाता हो। वहाँ विज्ञान के नक्षत्रों की किरणें अन्धकार का विनाश करनेवाली हों। २. **अदाभ्यः च मे**=मेरा जीवन उपक्षयरहित हो। मैं अपने जीवन में दबकर कार्य करनेवाला न होऊँ और **अधिपतिः च मे**=वह सबका अधिपति प्रभु मेरा हो। अथवा 'अधिपतित्व' मुझे प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपनी सब इन्द्रियों का अधिपति होऊँ। ३. **उपांशुः च मे**=उस प्रभु की उपासना द्वारा प्राप्त होनेवाली ज्ञान की किरणें मेरी हों तथा **अन्तर्यामः च मे**=सब इन्द्रियों का अन्तर मन में नियमन करनेवाला मैं बनूँ। ४. **ऐन्द्रवायवश्च मे**=इन्द्र तथा वायु सम्बन्धी विकास मुझे प्राप्त हो। मैं इन्द्रशक्ति का विकास करूँ तथा इन्द्रशक्ति के विकास के लिए प्राणों का विकास करनेवाला बनूँ। इस प्राणशक्ति के विकास के द्वारा सब मलों का नाश होकर **मैत्रावरुणश्च मे**=मुझे मित्र व वरुणशक्ति प्राप्त हो, अर्थात् मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ और द्वेष का निवारण करनेवाला होऊँ। ५. इस मित्र व वरुणशक्ति से **आश्विनश्च मे**=मेरी अदीर्घसूत्रता हो, **'न श्वः श्वमुपासीत'** इस याज्ञवल्क्य के निर्देश के अनुसार मैं कल-कल की उपासना न करूँ। **प्रतिप्रस्थानः च मे**=मेरा मन प्रत्येक प्राप्त कर्त्तव्य के प्रति प्रस्थानवाला हो, अर्थात् मैं सदा अपने कर्त्तव्य को करने के लिए उद्यत होऊँ। ६. **शुक्रः च मे**=मुझमें (शुक् गतौ) गतिशीलता हो, परन्तु साथ ही **मन्थी च मे**=मेरी वृत्ति मन्थन करने की हो—मैं प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक करनेवाला बनूँ। ये सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—मैं अपने जीवन में सूर्य व चन्द्रतत्त्व का समन्वय करनेवाल बनूँ। दबूँ नहीं, अधिपति बनूँ। प्रभु की उपासना से ज्ञानवाला बनूँ और मन में इन्द्रियों का नियमन करूँ। इन्द्र व प्राणशक्ति का विकास करके प्रेम के पास व द्वेष से दूर होने का प्रयत्न करूँ। साथ ही कार्यों को कल-कल पर न टालता हुआ प्रत्येक कर्त्तव्य के लिए सदा उद्यत रहूँ। गतिशीलता के साथ विचारशील बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञानुष्ठानात्मा**। छन्दः—**स्वराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

आग्रयण-हारियोजन (यज्ञविशेषाः)

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२०॥

१. **आग्रयणः च मे**=(अग्रे अयनं येन) मेरे अन्दर आगे चलने की वृत्ति हो और इसी वृत्ति के परिणामरूप **वैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन सब दिव्य गुणोंवाला हो। २. **ध्रुवः च मे**=मुझमें ध्रुवता—न्यायमार्ग से विचलित न होने की भावना हो तथा **वैश्वानरः च मे**=मेरा जीवन विश्वनरहित की भावना से ओत-प्रोत हो। मैं सब लोगों का भला करनेवाला बनूँ। ३. **ऐन्द्राग्नः च मे**=मेरा जीवन-यज्ञ इन्द्र व अग्नि देवतावाला हो। मैं जितेन्द्रिय बनूँ और आगे बढ़ूँ। जितेन्द्रिय बनने व आगे बढ़ने के परिणामस्वरूप **महावैश्वदेवः च मे**=मेरा जीवन महनीय विश्वदेवोंवाला हो, अथवा महनीय विश्वदेवों के पुञ्ज प्रभुवाला हो। ४. **मरुत्वतीयाः च मे**=उस प्रभुवाला बनने के लिए मरुत्वतीय यज्ञ मुझमें चलें। मरुत् अर्थात् मैं नियमितरूप से प्राणायाम-यज्ञ को करनेवाला बनूँ। इस प्राणायाम यज्ञ के द्वारा इन्द्रियों के दोषों का दहन करके **निष्केवल्यः च मे**=(नितरां केवलं सुखं यस्मिन् तस्मिन् भवः—द०) नितरां सुखमय स्थिति में होनेवाला ब्रह्मलोक मुझे प्राप्त हो। ५. **सावित्रः च मे सारस्वतः च मे**=इस संसार में जीवन्मुक्त बनने पर मेरा जीवन सविता के यज्ञवाला तथा सरस्वती के यज्ञवाला हो, अर्थात् मैं सदा निर्माण व उत्पत्ति के यज्ञ में प्रवृत्त रहूँ तथा सरस्वती का उपासक, अर्थात् ज्ञान—साधना करनेवाला होऊँ। इस प्रकार मेरा निजू जीवन हो। इसके अतिरिक्त मैं अपने गृहस्थ जीवन में **पात्नीवतः च मे**=प्रशस्तता से पत्नी के प्रति धर्म का पालन करनेवाला बनूँ और **हारियोजनः च मे**=मेरा हारियोजनयज्ञ चले, अर्थात् मैं अपने इन्द्रियरूप अश्वों को उत्तमता से शरीररूप रथ में जोतनेवाला बनूँ, (हरीणां अश्वानां योजयिता) और इस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ चलूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन मन्त्रवर्णित आग्रयण आदि यज्ञोंवाला हो। मैं आगे बढ़ूँ। आगे बढ़ने के लिए ही इन्द्रियाश्वों को सदा शरीर-रथ में जोते रक्खूँ, अर्थात् निरन्तर क्रियाशील बना रहूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञाङ्गवानात्मा**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

स्रुचः+स्वगाकारः (यज्ञपात्र)

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२१॥

१. **मे**=मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ करने के हेतु निम्न सब साधन **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों, अर्थात् प्राप्त हों।

(क) **स्रुचः च मे**=जुहू आदि स्रुक् पात्र। (ख) **चमसाः च मे**=चमस् आदि पात्र। (ग) **वायव्यानि च मे**=पवन में उत्तम साधनभूत पदार्थ। (घ) **द्रोणकलशः च मे**=सोमरस का आधारभूत कलश। (ङ) **ग्रावाणः च मे**=सिल-बट्टा आदि यज्ञिय पदार्थ। (च) **अधिषवणे च मे**=सोमवल्ली कूटने-पीसने के साधनभूत काष्ठफलक। (छ) **पूतभृत् च**

मे=पवित्रताकारक/सूप/छलनी आदि पात्र। (ज) **आधवनीयः च मे**=अच्छी प्रकार धोने आदि का पात्र। (झ) **वेदिः च मे**=होम करने की वेदि। (ञ) **बर्हिः च मे**=कुशासमूह। (ट) **अवभृथः च मे**=यज्ञ-समाप्ति समय का स्नान। (ठ) **स्वगाकारः च मे**=स्वस्तिवाचन।

भावार्थ : मेरे ये सब पदार्थ होम की क्रिया करने से समर्थ हों। यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में इन पदार्थों की नियुक्ति से मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए समर्थ बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञवानात्मा**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्निः-दिशः

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२२॥

१. **अग्निः च मे**=मेरे जीवन के अन्दर अग्नि हो, **घर्मः च मे**=मैं शक्ति की उष्णता-(गरमी)-वाला होऊँ। मैं निरन्तर गतिशील और अग्रगतिशील बनूँ। इस गतिशीलता से मेरी शक्ति बनी रहे। २. इस क्रिया और उससे होनेवाली शक्ति के साथ **अर्कः च मे**=मुझमें उपासना हो और **सूर्यः च मे**=इस उपासना से मेरे अन्दर ज्ञान के सूर्य का उदय हो। ३. इस ज्ञान-सूर्य के उदय के साथ प्रभु-उपासन से **प्राणश्च मे**=मुझे प्राणशक्ति प्राप्त हो। **अश्वमेधः च मे**=(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) मैं अपने प्राणों से राष्ट्र की सेवा करनेवाला बनूँ। ४. राष्ट्र की सेवा के लिए **पृथिवी च मे**=(प्रथ विस्तारे) मुझे विस्तृतशक्तियोंवाला शरीर प्राप्त हो। **अदितिः च मे**=मेरे इस शरीर में अखण्डन हो, मेरे स्वास्थ्य की किसी प्रकार से हानि न हो। ५. **दितिः च मे**=मुझमें वासना-विनाश के लिए खण्डनशक्ति हो और **द्यौः च मे**=वासना-विनाश से मेरे जीवन में प्रकाश की ज्योति हो (दिव्=प्रकाश) ६. इस प्रकार की ज्योति से मेरी **अङ्गुलयः**=(अगि गतौ) कर्मों में सदा व्याप्त रहनेवाली अंगुलियाँ सचमुच **शक्वरयः**=शक्तिशाली हों। मेरी इन अंगुलियों के कर्मों का निर्देश करनेवाली **दिशः च मे**=दिशाएँ मेरी हों, अर्थात् इन प्राच्यादि दिशाओं से बोध लेनेवाला मैं बनूँ। 'प्राची' दिशा मुझे यह बोध दे कि मैं भी 'आगे बढ़ूँ' (प्र अञ्च्)। 'अवाची' दिशा का मुझे यह बोध हो कि मैं आगे बढ़कर भी विनीत बना रहूँ (अव अञ्च)। 'प्रतीची' दिशा मुझे प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने का पाठ पढ़ाए और अन्त में 'उदीची' से मैं उन्नत होने का पाठ पढ़ूँ (उद् अञ्च्)। इन दिशाओं के निर्देशों के अनुसार ही मेरी अंगुलियाँ निरन्तर कार्यों को करनेवाली बनें। ये सबकी सब बातें **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मुझमें आगे बढ़ने का उत्साह हो, उससे मैं शक्तिसम्पन्न बना रहूँ। मुझमें प्रभु-उपासन हो, उससे मुझमें ज्ञान के सूर्य का उदय हो। मुझमें प्राणशक्ति हो और वह राष्ट्र-सेवा में लगे। मेरे शरीर की शक्तियों का विस्तार हो और वहाँ रोगजनित खण्डन न हों। वासनाओं का खण्डन करके मैं ज्ञान के प्रकाशवाला बनूँ। उस ज्ञान के अनुसार क्रिया में व्यापृत होऊँ। मेरी अंगुलियाँ शक्तिशाली बनें और वे अपने कार्यों का निर्देश प्राची आदि दिशाओं से लें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**कालविद्याविदात्मा**। छन्दः—**पंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

व्रत+रथन्तर

व्रतं च मऽऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रेऽऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२३॥

१. **व्रतं च मे**=मेरा जीवन व्रतवाला हो। वस्तुतः अव्रती जीवन तो कोई जीवन ही नहीं है। **ऋतवः च मे**=मेरे जीवन में वसन्त आदि ऋतुएँ हों। उन ऋतुओं की भाँति मेरे जीवन में सब कार्य ठीक समय पर होनेवाले हों। २. सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाला बनने के लिए ही **तपः च मे**=मेरे जीवन में तप हो। मैं आराम-पसन्दगी में न चला जाऊँ। इस तपस्या के द्वारा **संवत्सरः च मे**=संवत्सर मेरा हो। (संवसन्ति यस्मिन्), अर्थात् मेरा सम्पूर्ण वर्ष उत्तम क्रियाओं में ही निवासवाला हो। ३. **अहोरात्रे**=मेरे दिन और रात **यज्ञेन**=प्रभु के सम्पर्क द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न हों। मेरा 'अहः (दिन)' सचमुच 'अ+हन्' हो, मेरा नाश करनेवाला न हो तथा रात्रि मेरे लिए सचमुच 'रमयित्री' हो। ४. **ऊर्वष्ठीवे**=(ऊरू च अष्ठीवन्तौ च) मेरे ऊरू और ऊरूपर्व अर्थात् अष्ठीवन्तौ (घुटने) प्रभु-सम्पर्क से शक्तिशाली बनें। (अर्यते आभ्याम् अह गतौ) मेरे ऊरू सदा गतिवाले हों। 'ऊर्वोरोजः' इस वैदिक प्रार्थना के अनुसार मेरे ऊरुओं में ओज हो और उस ओज के कारण मेरे ऊरू मुझे शक्तिशाली व क्रियाशील बनाये रक्खें। साथ ही मेरे घुटने 'अष्ठीवन्तौ'= **अतिशयितामस्थि यस्य**=उत्तम अस्थिवाले हों। उनमें सार हो। वे कार्य-बोझ को उठा सकनेवाले हों। ५. इस प्रकार के ऊरू व अष्ठीवन्तों के द्वारा **बृहद्रथन्तरे च मे**=मेरे जीवन में निरन्तर (बृहि वृद्धौ) वृद्धि हो तथा मैं **रथन्तरे**=शरीररूप रथ से इस जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ये सब वस्तुएँ **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं व्रती, ऋतुओं के अनुसार नियमित जीवनवाला, तपस्वी, सम्पूर्ण वर्ष उत्तम निवासवाला, उत्तम दिन-रात्रिवाला, उत्तम जंघाओं व घुटनोंवाला, वृद्धिशील तथा शरीर-रथ से जीवन-यात्रा को तीर्ण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विषमाङ्कगणितविद्याविदात्मा**। छन्दः—**संकृतिः**[क], **विराट्संकृतिः**[ख]। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेतीस देवता

[क]एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽएकादश च मऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ[ख]एकविꣳशतिश्च मऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳ शतिश्च मे नवविꣳ शतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मऽएकत्रिꣳ शच्च मऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२४॥

१. **एका च मे तिस्रः च मे**=एक देवता को मैं अपनानेवाला बनूँ और एक देवता को अपनाने के द्वारा तीनों देवताओं को मैं अपनानेवाला बनूँ। वस्तुतः गुणों का यह स्वभाव है कि एक गुण को अपने अन्दर धारण करने से अन्य गुणों को मैं अपने में धारण करनेवाला

बनता हूँ। गुणों की एक शृंखला है। उस शृंखला की एक कड़ी को पकड़कर अपनी ओर आकृष्ट करेंगे तो शृंखला-की-शृंखला हमारी ओर खिंची चली आएगी। २. **तिस्रः च मे पञ्च च मे**=तीन देवताओं को मैं धारण करता हूँ और इससे पाँच देवताओं का धारण करनेवाला बनता हूँ। ३. **पञ्च च मे सप्त च मे**=पाँच दिव्य गुणों को धारण करता हुआ मैं सात दिव्य गुणों को अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **सप्त च मे नव च मे**=सात के धारण से नौ का धारण होता है। ५. **नव च म एकादश च मे**=नौ मेरे होते हैं, और इससे ग्यारह-के-ग्यारह पृथिवीस्थ देव मेरे हो जाते हैं। अध्यात्म में पृथिवी यह शरीर है। इस शरीर के 'पुरमेकादश द्वारम्' इन उपनिषत् शब्दों में वर्णित सभी ग्यारह द्वारों के अधिष्ठातृ देव मुझमें अपना-अपना स्थान ठीक रूप में ग्रहण करते हैं।

६. **एकादश च मे त्रयोदश च मे**=मेरे शरीर के ग्यारह देवों के ठीक स्थान ग्रहण करने पर हृदयान्तरिक्ष के बारहवें व तेरहवें देव भी मेरे होते हैं। ७. **त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे**=तेरह देव मेरे होते हैं और पन्द्रह देवों को मैं ग्रहण करता हूँ। ८. **पञ्चदश च मे सप्तदश च मे**=पन्द्रह मेरे होते हैं और उससे मैं सतरह को अपनाता हूँ। ९. **सप्तदश च मे नवदश च मे**=सतरह देवों को मैं अपनाता हूँ और उससे उन्नीस देव मेरे होते हैं। १०. **नवदश च मे एकविंशतिः च मे**=उन्नीस देव मेरे होते हैं, और उससे इक्कीस देवों को मैं अपनानेवाला होता हूँ। ११. **एकविंशतिः च मे त्रयोविंशतिः च मे**=इक्कीस देव मेरे होते हैं और उससे तेईस देवों को मैं अपनाता हूँ। १२. हृदयान्तरिक्ष के देवों के साथ मस्तिष्करूप द्युलोक के देव भी मेरे होते हैं **त्रयोविंशतिः च मे पञ्चविंशतिः च मे**=तेईस को अपनाकर पच्चीस को मैं अपनाता हूँ। १३. **पञ्चविंशतिः च मे सप्तविंशः च मे**=पच्चीस तो मेरे होते ही हैं मैं अपने में सताईस का धारण करता हूँ। १४. **सप्तविंशतिः च मे नव विंशतिः च मे**=सताईस मेरे होते हैं और उनसे उन्तीस भी मेरे हो जाते हैं। १५. **नवविंशतिः च मे एकत्रिंशत् च मे**=उन्तीस मेरे होते हैं और इकतीस को मैं अपना लेता हूँ और अन्त में १६. **एकत्रिंशत् च मे त्रयस्त्रिंशत् च मे**=इकतीस देव तो मेरे होते ही हैं, मैं तेंतीस-के-तेंतीस देवों को अपनानेवाला बनता हूँ। ये सब देव **यज्ञेन**=प्रभु के उपासन से **कल्पन्ताम्**=मुझे प्राप्त हों। अथवा प्रभु से सम्पर्क के निमित्त मुझे समर्थ करें।

भावार्थ—तेतीस देवों का अपनाना ही मेरा प्रभु-स्तवन होता है। ये ही मेरे स्तोम हो जाते हैं और शतपथ ९।३।३।२ के **'एतद्यजमाना सर्वान् कामानाप्त्वा युग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति'** इन शब्दों के अनुसार मैं इन 'एक, तीन, पाँच व सात' आदि के क्रम से विषम संख्याओं में चलनेवाले स्तोमों से इस लोक में सब वाञ्छनीय पदार्थों को प्राप्त करके स्वर्ग को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**समाङ्गणितविद्याविदात्मा**। छन्दः—**पंक्तिः**[क], **आकृतिः**[ग]। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदित्य ब्रह्मचारी (अड़तालीस वर्ष)

[क]चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे [ग]चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार तेतीस-के-तेतीस देवों को अपनाकर मैं **अदितिः**=अदीना देवमाता का सच्चा पुत्र 'आदित्य' बनूँ। इस आदित्य ब्रह्मचारी की प्रार्थना है कि **चतस्रः च मे अष्टौ च मे**=मेरे चार वर्ष व चार के साथ आठ वर्ष **यज्ञेन**=देवपूजा के हेतु से **कल्पन्ताम्**=सम्पन्न हों। ये मुझमें अधिकाधिक दिव्यता व शक्ति भरनेवाले हों। २. **अष्टौ च मे द्वादश च मे**=मेरे आठ वर्ष सुन्दर हों और बारह वर्ष भी देवगुणों के निर्माण से सुन्दर बनें। ३. **द्वादश च मे षोडश च मे**=मेरे बारह वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और सोलह वर्ष भी यज्ञों से सम्पन्न हों। ४. इसी प्रकार **षोडश च मे विंशतिः च मे**=मेरे सोलह वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बीस वर्ष भी इसी प्रकार उत्तम हों। ५. **विंशतिः च मे चतुर्विंशतिः च मे**=मेरे बीस वर्ष तो गुणों का आदान करनेवाले हों ही, २४ वर्ष भी गुणों का ग्रहण करते हुए मुझे **वसु**=उत्तम वसुओंवाला बनाएँ। ६. **चतुर्विंशतिः च मे अष्टाविंशतिः च मे**=मेरे चौबीस वर्ष तो यज्ञ से सम्पन्न हों ही, अट्ठाईस वर्ष भी यज्ञ से शक्तिशाली बनें ७. **अष्टाविंशतिः च मे द्वात्रिंशत् च मे**=मेरे अट्ठाईस वर्ष यज्ञ से शक्तिसम्पन्न हों और बत्तीस वर्ष भी शक्तिसम्पन्न हों। ८. **द्वात्रिंशत् च मे षट्त्रिंशत् च मे**=मेरे बत्तीस वर्ष यज्ञ के द्वारा शक्तिसम्पन्न हों तथा छत्तीस वर्ष भी यज्ञ से सामर्थ्य-सम्पन्न बनें। ९. **षट्त्रिंशत् च मे चत्वारिंशत् च मे**=जहाँ मेरे छत्तीस वर्ष यज्ञ से समर्थ बनें और मैं रुद्र ब्रह्मचारी बन पाऊँ, वहाँ मेरे चालीस वर्ष भी यज्ञ से मुझे सम्पन्न करें। १०. **चत्वारिंशत् च मे चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चालीस वर्ष यज्ञ से शक्तिशाली बनें और चवालीस वर्षों को मैं यज्ञों से शक्तिसम्पन्न कर पाऊँ और ११. अन्त में **चतुश्चत्वारिंशत् च मे**=मेरे चवालीस वर्ष बड़े उत्तम हों तथा **अष्टाचत्वारिंशत् च मे**=मेरे अड़तालीस वर्ष **यज्ञेन**=प्रभु-सम्पर्क के द्वारा **कल्पन्ताम्**=प्रभु के सामर्थ्य से सम्पन्न हों और इस प्रकार मैं आदित्य ब्रह्मचारी बनूँ।

भावार्थ—२४ वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं 'वसु' बनूँ। छत्तीस वर्षों को यज्ञ से क्लृप्त करके मैं 'रुद्र' बनूँ और अड़तालीस वर्षों को यज्ञ से सम्पन्न करके मैं आदित्य बन जाऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पशुविद्याविदात्मा**। छन्दः—**ब्राह्मीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

त्र्यवि+तुर्यौही (गौ)

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२६॥

१. मन्त्र संख्या २४ तथा २५ में ३३ देवों के धारण व अड़तालीस वर्षों तक गुणों व शक्ति का आदान करते हुए 'आदित्य' बनने का उल्लेख था। यह सब तभी सम्भव है जब हमारी वृत्ति सात्त्विक बने। सात्त्विक वृत्ति बनने का सम्भव 'आहार की शुद्धि' पर है और यह सर्वोत्तम सात्त्विक व पूर्ण भोजन 'गोदुग्ध' ही है, अतः उस गोदुग्ध का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**त्र्यविः च मे**=(अविः=षण्मासात्मकः कालः, त्रयोऽवयो यस्य) डेढ़ साल का वृष—बैल मेरा हो **त्र्यवी च मे**=डेढ़ साल की गौ मुझे प्राप्त हो। २. **दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे**=द्विसंवत्सर (दो साल का) बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार दो साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाएँ। ३. **पञ्चाविः च मे पञ्चावी च मे**=ढाई साल का बैल मुझे प्राप्त हो और इसी प्रकार ढाई साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु से समर्थ करे। ४. **त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे**=(वत्सः=वत्सरः) तीन साल का बैल मेरा हो और तीन साल की गौ मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ५. **तुर्यवाट् च मे**

तुर्यौही च मे=(तुर्यं वर्षं वहति इति) साढ़े तीन साल का बैल मुझे प्राप्त हो और साढ़े तीन साल की गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के निमित्त **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—हमारे पास डेढ़ साल की उमर से साढ़े तीन साल तक की उमर के बैल व गाएँ हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**पशुपालनविद्याविदात्मा**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पष्ठवाट्-धेनु

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मऽउक्षा च मे वशा च मऽऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥२७॥

१. (पष्ठं=वर्षचतुष्कं वहति इति) **पष्ठवाट् च मे**=चार साल का बैल मेरा हो **पष्ठौही च मे**=और इसी प्रकार चार साला गौ मुझे प्राप्त हो। २. **उक्षा च मे**=वीर्य-सेचन में समर्थ बैल मुझे प्राप्त हो **वशा च म**=वन्ध्या गौ भी मेरे पास रहे। ३. **ऋषभः च मे**=अति युवा वृषभ मेरे पास हो और **वेहत् च मे**=गर्भधारिनी गौ भी मुझे यज्ञ के हेतु समर्थ करे। ४. **अनड्वान् च मे**=शकट—वहनक्षम बैल मुझे प्राप्त हो और **धेनुः च मे**=नवप्रसूता गौ मुझे **यज्ञेन**=यज्ञ के द्वारा **कल्पन्ताम्**=शक्तिसम्पन्न बनाये। ५. वस्तुतः गौ के सम्पर्क के बिना मनुष्य अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। ऋषियों के आश्रम गौवों पर आधारित थे। कन्यादान से पहले गोदान का होना इस बात का संकेत करता है कि घर के उत्तम निर्माण का सम्भव गौ पर ही स्थित है। इन गौओं के साथ बैलों का होना आवश्यक है। गौ के बिना बैल नहीं, बैल के बिना गौ नहीं। सब प्रकार के गौ-बैलों का सम्भव कृषिप्रधान जीवन में ही सम्भव है, अतः वेद में कृषि को उत्तम स्थान दिया गया है—'**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व**'=कृषि-अतिरिक्त कार्यों को जुआ ही कहा गया है। इस कृषि में ही गाएँ हैं 'तत्र गावः'। यहीं उत्तम घर का निर्माण होता है। मैं इन गौ-बैलोंवाला होऊँ और उन गौवें के द्वारा यज्ञनामक प्रभु का वर्णन करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—गोरक्षा द्वारा गोदुग्ध को अपना मुख्य भोजन बनाकर मैं सात्त्विक बनूँ, दिव्य गुणोंवाला बनूँ। आदित्य बनकर जीवन-यात्रा को पूर्ण करूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**संग्रामादिविदात्मा**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः[क], आर्चीबृहती[र]**।
स्वरः—**पञ्चमः[क], मध्यमः[र]**॥

नामग्राह होम

[क]वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा। [र]इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमनऽऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय॥२८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में वाजादि शब्दों से चैत्रादि मासों का उल्लेख करके कहते हैं कि उस-उस मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं—(क) **वाजाय**=चैत्र मास के लिए (वाजः अन्नम्) अन्न के प्राचुर्य के कारण चैत्र मास अन्नरूप है, उसके लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ख) **प्रसवाय**=प्रकृष्ट 'सव' अर्थात् स्नानवाले इस वैशाख मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं, अर्थात् इस मास को यज्ञों में बिताते हैं। (ग) **अपिजाय**=(अप्सु जायते जलक्रीडारतत्वात् ज्येष्ठः) जो मास जल-क्रीड़ादि में ही बीतता है उस ज्येष्ठ मास

के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (घ) **क्रतवे स्वाहा**=चातुर्मास्यादि यागों के प्राचुर्य के कारण आषाढ़ मास 'क्रतु' है, उस क्रतु के लिए हम उत्तम आहुति देते हैं। (ङ) चातुर्मास्य में यात्रादि निषेद्य के कारण श्रावण 'वसु' है, घर में ही निवास करानेवाला है। इस **वसवे स्वाहा**=श्रावण मास के लिए हम आहुति देते हैं। (च) (तापकरत्वाद् भाद्रपदस्य अहर्पतित्वम्) **अहर्पतयेऽस्वाहा**=मैं भाद्रपद मास के लिए आहुति देता हूँ। (छ) (तुषारादिना मोहरूपत्वं आश्विनः) **अह्ने मुग्धाय स्वाहा**=ओस आदि के कारण जिसमें स्पष्ट नहीं दीखता उस मुग्ध दिनोंवाले आश्विन मास के लिए मैं आहुति देता हूँ। (ज) **अमुग्धाय**=जिसमें अब ओस आदि न गिरने के कारण दिङ्मोह नहीं होता ऐसे **वैनंशिनाय**=थोड़ी घड़ियाँ होने से विनाशशील दिनोंवाले कार्तिक मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं (झ) **अविनंशिने**=विनाश न होने देनेवाले **आन्त्यायनाय**=उस प्रभु के समीप पहुँचानेवाले (अन्तेभवः आन्त्यः च अयनं च) जो सबके अन्त में रहनेवाले तथा सबके अयन हैं, उस मार्गशीर्ष मास के लिए **स्वाहा**=हम सम्यक् आहुति देते हैं। **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** इस वाक्य में मार्गशीर्ष मास को प्रभु की विभूति माना गया है। (ञ) **आन्त्याय**=जिसमें छोटे दिनों का अन्त आ जाता है उस **भौवनाय**=जाठराग्नि की वृद्धि से प्राणियों के हितकर पौष मास के लिए **स्वाहा**=हम आहुति देते हैं। (ट) **भुवनस्य पतये स्वाहा**=प्राणियों के पालक माघ मास के लिए आहुति देता हूँ। (ठ) अन्त में **अधिपतये स्वाहा**=आधिक्येन रक्षक इस फाल्गुन मास के लिए आहुति देता हूँ और इस प्रकार **प्रजापतये स्वाहा**=प्रजापतिरूप इस संवत्सर के लिए आहुति देता हूँ, अर्थात् मेरा वर्ष यज्ञमय बीतता है। २. इस प्रकार जहाँ सारा वर्ष यज्ञ चलता है वहाँ **इयं ते राट्**=यह तेरा ही राज्य है। प्रभु के साम्राज्य में यज्ञ चलते हैं अथवा जहाँ यज्ञ हैं, वहाँ प्रभु का राज्य है। ३. **मित्राय यन्तासि**=मुझ यज्ञशील अपने मित्र के लिए तू इस शरीर-रूप रथ का सारथि है। मेरे जीवन-रथ को चलानेवाला है। ४. **यमनः**=तू अन्तर्यामिरूपेण सबका नियमन करनेवाला है। ५. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **ऊर्जे**= बल और प्राणशक्ति की प्राप्ति के लिए उपासित करता हूँ। **वृष्टयै त्वा**=मैं इसलिए आपकी उपासना करता हूँ कि आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ। **त्वा**=आपका उपासक इसलिए बनता हूँ कि **प्रजानां आधिपत्याय**=प्रजाओं का मैं आधिक्येन रक्षण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा सम्पूर्ण वर्ष यज्ञमय बीते। मैं प्रभु का उपासक बनकर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करूँ, आनन्द की वर्षा का अनुभव करूँ तथा प्रजाओं का अधिपति बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञानुष्ठानात्मा**। छन्दः—**स्वाराड्विकृतिः**[क] **ब्राह्म्युष्णिक्**[र]।
स्वरः—**मध्यमः**[क], **ऋषभः**[र]॥

यज्ञेन कल्पताम्

[क]**आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। [र]स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥२९॥**

१. गतमन्त्र में संवत्सर के बारह-के-बारह मासों को यज्ञमय बनाने का वर्णन था उसी बात को इस रूप में कहते हैं कि **आयुः**=मेरा सारा जीवन **यज्ञेन**=(यज्ञनिमित्तेन) यज्ञ के

हेतु **कल्पताम्**=सिद्ध हो। (कल्पताम् साध्यताम् प्राप्यताम्—म०)। इसी प्रकार २. **प्राणः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी प्राणशक्ति यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो। मैं अपनी सम्पूर्ण प्राणशक्ति का प्रयोग यज्ञ के लिए करूँ। ३. जीवन और प्राण को यज्ञ के लिए सिद्ध करनेवाला मैं यही चाहता हूँ कि **चक्षुः श्रोत्रं वाग्यज्ञेन कल्पताम्**=मेरी आँख, मेरे कान तथा मेरी वाणी—ये सब यज्ञ के लिए सिद्ध हों। सवितादेव की कृपा से मेरी ये सब इन्द्रियाँ यज्ञात्मक शुभ कर्मों में लगी रहें। ४. **मनो यज्ञेन कल्पताम्**=सब इन्द्रियाश्वों के लिए लगामरूप यह मन भी यज्ञ के लिए अर्पित हो। मन की कृपा से **आत्मा यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह देही (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः) यज्ञिय बन जाए। ५. **ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्**=चारों वेदों का ज्ञाता 'ब्रह्मा' मैं अपने को यज्ञ के निमित्त सिद्ध करूँ। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनकर भी मैं यज्ञ-निवृत्त न हो जाऊँ। अपितु ज्ञानी बनकर मैं और अधिक लोकहितात्मक कर्मों में प्रवृत्त होऊँ। **ज्योतिः यज्ञेन कल्पताम्**=मेरा यह अन्तःप्रकाश यज्ञों के लिए सिद्ध हो। मैं अपने अन्दर उस प्रभु के प्रकाश को देखकर पूर्णरूप से ही 'यज्ञ' बन जाऊँ, इस यज्ञ से ही मैं उस यज्ञ (प्रभु) को उपासित करूँगा। ६. **स्वर्यज्ञेन कल्पताम्**=(स्वरिति व्यानः, व्यानः सर्वशरीरगः) मेरा सर्वशरीर व्यापी व्यानवायु यज्ञ के निमित्त सिद्ध हो, अर्थात् मेरी एक-एक चेष्टा यज्ञ के लिए हो। ७. **पृष्ठं** (पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा 'दिवो नाकस्य पृष्ठात्) मेरा सारा प्रभु-स्तवन या सुखमय स्थिति यज्ञ के लिए हो। यज्ञ को ही मैं प्रभु-स्तवन समझूँ और यज्ञ को ही स्वर्ग जानूँ—यज्ञ में आनन्द लूँ। ८. लोकहित के लिए स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर किये गये कर्म 'यज्ञ' हैं। **यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्**=मेरे यज्ञ भी यज्ञ के लिए सिद्ध हों। यज्ञात्मक कर्मों को करते हुए मुझे किसी प्रकार की फलेच्छा न हो। ९. **स्तोमश्च**=(स्तुवन्ति यस्मिन् सोऽथर्ववेदः—द०) **यजुः च**=(यजति येन स यजुर्वेदः—द०) **ऋक् च साम च**=मेरे ये अथर्व, यजुः, ऋक् व साम नामक सब वेद यज्ञ के निमित्त सिद्ध हों। इस प्रकार **बृहत् च**=मेरा वर्धन-ही-वर्धन हो। **रथन्तरं च**=मैं इस शरीररूप रथ से इस भव-सागर को तीर्ण करनेवाला बनूँ। ११. हे **देवाः**=सब देवो! आपकी कृपा से, वस्तुतः आपको अपने अन्दर धारण करने से **स्वः अगन्म**=हम उस 'स्वयं राजमान' (स्व-र) ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें। **अमृताः अभूम**=मृत्युरूप रोगों से कभी आक्रान्त न हों। १२. इस प्रकार **प्रजापतेः प्रजाः अभूम**=प्रभु की प्रजा बनें। प्रभु की प्रजा बनकर **वेट्** (सत् क्रियया—द०) सत् क्रिया के द्वारा **स्वाहा**=हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। वस्तुतः अपने सत्कर्मों से ही हम प्रभु का अर्चन करनेवाले होगें।

भावार्थ—यहाँ २९वें मन्त्र पर ११५ कर्म (वाज मेरा हो? प्रसव मेरा हो आदि) समाप्त होते हैं। जिस वाज से इन वाक्यों का प्रारम्भ हुआ था उसी वाज का उपयोग अगले मन्त्र में कहते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**राज्यवानात्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

शक्ति के ऐश्वर्य में

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म सावीषत्॥३०॥

१. **वाजस्य नु प्रसवे**=शक्ति के ऐश्वर्य में, अर्थात् शक्तिसम्पन्न ऐश्वर्य के द्वारा शक्ति व ऐश्वर्य का सम्पादन करते हुए **मातरं महीम्**=इस अपनी भूमिमाता को **वचसा**=वचन के द्वारा, अर्थात् प्रतिज्ञा करके **अदितिम्**=अखण्डित, शत्रुओं से अपराभूत **नाम**=सार्थक

नामवाला **करामहे**=करते हैं। वस्तुतः वैदिक संस्कृति में अब भी विवाह-संस्कार के समय युवक व युवति व्रत लेते हैं कि हम अपने राष्ट्र को हारने नहीं देगें। व्रत का नाम ही 'जयाहोम' है। हम राष्ट्र की विजय के लिए आहुति देते हैं। २. यह हमारी मातृभूमि वह है **यस्याम्**=जिसमें **इदं विश्वं भुवनम्**=ये सब लोक **आविवेश**=समन्तात् प्रवेश करता है, यहाँ किसी का आना निषिद्ध नहीं। जो भी यहाँ आकर रहना चाहे सभी के लिए यहाँ स्थान है। ३. हमारी तो यही इच्छा है कि **तस्याम्**=उस मातृभूमि में **सविता देवः**=सबका उत्पादक देव **नः**=हममें **धर्म**=धर्म को **साविषत्**=उत्पन्न करे। हमारी मनोवृत्ति अधर्म की ओर न झुके। हमारे हृदयक्षेत्र में सद् गुणों के बीज का प्रभुकृपा से वपन हो।

भावार्थ—१. हम शक्तिसम्पन्न बनें, उचित ऐश्वर्य को कमानेवाले बनें। शक्ति के द्वारा यदि हम मातृभूमि को राजनैतिक दासता से मुक्त करें तो ऐश्वर्यवृद्धि द्वारा इसे आर्थिक पराधीनता से भी मुक्त करें। हम मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए वचनबद्ध हों। २. हमारी मातृभूमि सभी का स्वागत करनेवाली हो। ३. इसमें रहते हुए प्रभुकृपा से हम धर्म की प्रवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

द्रविणं-वाजः

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजोऽअस्मे॥३१॥

१. पिछले मन्त्र के व्रत को पूरा करने के लिए प्रार्थना करते हैं कि **अद्य**=आज **विश्वे**=सब **मरुतः**=प्राण **अवसागमन्तु**=हमें प्राप्त हों। प्राण—साधना के द्वारा हम अपनी शक्ति व ऐश्वर्य-प्राप्ति—क्षमता की साधना करें। २. **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=रक्षण के हेतु **आगमन्तु**=हमें प्राप्त हों। ३. हमारे जीवन में **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः भवन्तु**=दीप्त हों। हमारे शरीर में जाठराग्नि के द्वारा शक्ति की अग्नि प्रज्वलित हो, हमारे हृदय में स्नेह की अग्नि का तथा हमारे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव हो। ४. **विश्वे देवाः**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **आगमन्तु**=प्राप्त हों और ५. उन देवों की कृपा से **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन तथा **वाजः**=शक्ति **अस्मे**=हमारे लिए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—देवों की कृपा व रक्षण से हमें शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्त हो। इस शक्ति व ऐश्वर्य के द्वारा हम अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता का साधन करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नवान् विद्वान्**। छन्दः—**निचृदार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

वाजः

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु॥३२॥

१. **नः**=हमारा **वाजः**=बल **सप्त प्रदिशः**=सात प्रकृष्ट दिशाओं को 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व भूः-भुवः—स्वः' इन सात लोकों में रहनेवाले प्राणियों को **वा**=तथा **चतस्रः**=चार **परावतः**=दूरस्थ लोकों 'महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामवाले लोकों में रहने वालों को **अवतु**=रक्षित करनेवाला हो। मेरी शक्ति सदा सभी की रक्षा में विनियुक्त हो। २. 'वाजः' का अर्थ 'अन्न' भी होता है। मेरा अन्न केवल मेरा ही पोषण करनेवाला न हो। मैं 'केवलादी' 'बनकर' 'केवलाघ' न हो जाऊँ। अग्निहोत्र द्वारा मैं इस आहुति को सूर्य तक पहुँचाकर सभी लोकों में रहनेवाले प्राणियों को उसमें भागी करूँ। ३. **नः**=हमारी **वाजः**=यह

शक्ति व अन्न **विश्वैः देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **धनसातौ**=धन की प्राप्ति होने पर **इह**=इस मानव-जीवन में **अवतु**=सभी को प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी शक्ति व धन 'सातों लोकों व चारों दिशाओं को तृप्तकरनेवाले हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दान-दिव्यता-वीरता-विजय

वाजो नोऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ२॥ऽऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयम्॥३३॥

१. **वाजः**=शक्ति **नः**=हममें **अद्य**=आज **दानम्**=दान को **प्रसुवाति**=(प्रेरयेत्) प्रेरित करे। शक्तिशाली व्यक्ति कृपणता को कायरता समझता है, इसलिए वह देता है, लेने से वह मरना अच्छा समझता है। २. **वाजः**=यह शक्ति **ऋतुभिः**=नियमित-व्यवस्थित गति द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **कल्पयाति**=सिद्ध करती है। शक्ति के कारण हममें दिव्य गुणों का विकास होता है। वर्च (Virtue) वीरत्व ही तो है और अवीरता ही ईवल (evil) है। ३. **वाजः**=यह शक्ति **हि**=निश्चय से **मा**=मुझे **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर-ही-वीर बनाती हैं। मैं दान देने में वीर बनता हूँ, इन्द्रियों के संयम में वीर बनता हूँ, माता-पिता, आचार्य की सेवा में वीर बनता हूँ तथा स्वाध्याय में भी शूर बनता हूँ। ४. **वाजपतिः**=इस शक्ति का पति बनकर **विश्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **जयेयम्**=मैं जीतनेवाला बनूँ। मैं कहीं पराजित न होऊँ। 'विजय ही सदाचार है, पराजय ही अनाचार है' इन आचार्य दयानन्द के शब्दों के अनुसार इस वाज के द्वारा मैं सर्वत्र विजयी बनूँ।

भावार्थ—वाज के द्वारा शक्ति के परिणामस्वरूप मुझमें दान की वृत्ति हो, सब दिव्य गुणों का मुझमें विकास हो। मैं वीर बनूँ और विजयी होऊँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**अन्नपतिः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सर्व-दिग्विजय

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्द्धयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वाऽआशा वाजपतिर्भवेयम्॥३४॥

१. **वाजः**=यह शक्ति **नः पुरस्तात्**=हमें आगे ले-चलनेवाली हो। शक्ति के कारण मैं निरन्तर उन्नति करता चलूँ। **उत**=और यह शक्ति **नः**=हमें **मध्यतः**=मध्य मार्ग से ले-चलनेवाली हो। अशक्त पुरुष ही अति में चलता है। क्षीण व्यक्ति शीघ्र क्रुद्ध हो उठता है। २. **वाजः**=शक्ति **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा, यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति के द्वारा **देवान्**=दिव्य गुणों को **वर्द्धयाति**=बढ़ाती है। सारे आसुर दुर्गुण अयज्ञिय भावना व लोभ के ही परिणाम हैं। यज्ञशेष खाने से मुझमें लोभ की वृत्ति समाप्त होकर अच्छे गुणों का निरन्तर विकास होगा। ३. **वाजः**=यह शक्ति **मा**=मुझे **हि**=निश्चय से **सर्ववीरम्**=सब दिशाओं में वीर-ही-वीर **चकार**=कर देती है। मुझमें कायरता का किसी भी रूप में निवास नहीं होता। ४. **वाजपतिः**=शक्ति का पति बनकर मैं **सर्वाः आशाः**=सब दिशाओं को **भवेयम्**=प्राप्त करूँ (भू प्राप्तौ)—वशीभूत करूँ। मेरी सर्वत्र विजय-ही-विजय हो।

भावार्थ—मैं शक्ति से आगे बढ़ूँ, मध्य मार्ग में चलूँ। मुझमें त्याग के कारण सब दिव्य गुणों का विकास हो। मैं वीर बन जाऊँ और सर्वदिग्विजय करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रसविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**स्वराडार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

अप् ओषधि

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सो ऽहं वाजꣳसनेयमग्ने ॥३५॥

१. मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के—पृथिवीरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के **पयसा**=आप्यायन (ओप्यायी वृद्धौ) से अथवा (पयः=रस) रस से **मा**=मुझे **सं सृजामि**=संसृष्ट करता हूँ, युक्त करता हूँ। मैं अपने सब अङ्गों को शक्तिशाली बनाता हूँ। २. इसी उद्देश्य से मैं **मा**=मुझे, अर्थात् अपने को **अद्भिः**=जलों से तथा **ओषधीभिः**=ओषधियों से **सं सृजामि**=संयुक्त करता हूँ, अर्थात् जलों व ओषधियों का प्रयोग करता हूँ। जल और ओषधियों के प्रयोग से सात्त्विक सोमशक्ति को प्राप्त करता हुआ मैं अपने सब अङ्गों का आप्यापन करनेवाला बनता हूँ। ३. **सः अहम्**=वह मैं **अग्ने**=उन्नति-साधक प्रभो! **वाजम्**=शक्ति को **सनेयम्**=प्राप्त करूँ। मैं शक्ति से सना हुआ हो जाऊँ। मेरे सब अङ्गों में शक्ति का सञ्चार हो जाए।

भावार्थ—हम सम्पूर्ण शरीर का आप्यायन करें। जलों व ओषधियों का प्रयोग करें और एक-एक अङ्ग को शक्ति से युक्त बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**रसविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

आप्यायन

पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥३६॥

१. मेरे लिए **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **पयः**=आप्यायन हो। **ओषधीषु**=पृथिवी से उत्पन्न इन ओषधियों में आप्यायनकारी रस हो। २. **पयः दिवि**=इस द्युलोक में भी सूर्यरश्मियों के द्वारा मेरे लिए आप्यायन व वर्धन हो। ३. हे प्रभो! आप कृपा करके **अन्तरिक्षे**=मेघों के आधारभूत अन्तरिक्ष में भी **पयः धाः**=आप्यायन का धारण कीजिए। यह अन्तरिक्षलोक भी मेरे लिए आप्यायन करनेवाला हो। वृष्टि के द्वारा यह उत्तम ओषधियों को प्राप्त कराके मेरे सब अङ्गों में रस का सञ्चार करे। ४. इस प्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट दिशाएँ **पयस्वतीः सन्तु**=आप्यायनवाली हों। मेरा सारा वातावरण ही आप्यायन से परिपूर्ण हो। यह सब विश्व मेरे साथ शान्ति में हो और इस प्रकार मेरे वर्धन का कारण बने।

भावार्थ—पृथिवी, ओषधियाँ, द्युलोक, अन्तरिक्ष व सब प्रकृष्ट दिशाएँ मेरा आप्यायन करनेवाली हों। अब इस आप्यायन ही आप्यायनवाले व्यक्ति का राज्याभिषेक करते हैं—

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सम्राड् राजा**। छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

साम्राज्याभिषेक

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥३७॥

१. **देवस्य सवितुः**=सब-कुछ देनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के इस **प्रसवे**=उत्पन्न जगत् में अथवा प्रभु की प्रेरणा में **त्वा**=तुझे **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। तेरा राज्याभिषेक करता हूँ, अथवा गतमन्त्र में वर्णित आप्यायनकारी रस से तुझे सिक्त करता हूँ और निम्न बातों से तुझे युक्त करता हूँ—२. **अश्विनोर्बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्न से तू

सदा प्रयत्नशील होता है, तेरे प्राणापान तुझे क्रियामय जीवनवाला बनाते हैं, अथवा **अश्विनोः**=सूर्य-चन्द्रमा के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्नों से। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति तू सदा क्रियाशील होता है। **स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव**=वेद का यही तो उपदेश है कि हम सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से कल्याण के मार्ग का आक्रमण करें। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से। 'पूषा' पोषण की देवता है, हाथों का काम ग्रहण करना है। तू सदा पोषण के लिए ही उस-उस वस्तु का ग्रहण करता है। तेरे आहार का मापक 'पोषण' होता है न कि 'स्वाद'। ४. **सरस्वत्यै (सरस्वत्याः) वाचः**=सरस्वती की वाणी से, तेरी वाणी 'विद्या की अधिदेवता' की वाणी होती है। तू वाणी से विद्या का ग्रहण करनेवाला व ज्ञान का प्रसार करनेवाला बनता है। ५. **यन्तुः यन्त्रेणा**=नियन्ता के नियन्त्रण से। तू बुद्धिरूप सारथि से मनरूप लगाम द्वारा इन्द्रियाश्वों का नियन्त्रण करनेवाला बनता है। ६. और अन्त में **अग्नेः साम्राज्येन**=अग्नि के साम्राज्य से। आगे बढ़नेवाले, उन्नति करनेवाले पुरुष के साम्राज्य से—पूर्ण इन्द्रिय-विजय से, तू जितेन्द्रिय बनता है। वस्तुतः इस जितेन्द्रियता में ही सारी उन्नतियों का रहस्य निहित है। इसी से तू आगे बढ़ता है और अपना सम्राट् बनकर प्रजाओं का भी सम्राट् बन पाता है। **'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापपितुं प्रजाः'**, जितेन्द्रिय पुरुष ही सब प्रजाओं को वश में स्थापित करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु-प्रेरणा में चलें (प्रसवे), प्राणापान के प्रयत्न से आवश्यक सामग्री का अर्जन करें, पोषण के लिए ही वस्तुओं का ग्रहण करें। हमारी वाणी विद्या के लिए हो। इन्द्रियादि के हम नियन्ता बनें और यह नियन्त्रित्व, जितेन्द्रियता, आधिपत्य, साम्राज्य हमें अग्नि बनाये, हमारी उन्नति का कारण हो।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**ऋतुविद्याविद्विद्वान्**। छन्दः—**विराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऋताषाट् ऋतधामा

ऋ॒ता॒षाड्ऋ॑तधामा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयोऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑।
स न॑ऽइ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑॥ ३८॥

१. गतमन्त्र में 'अभिषिक्त करने' का उल्लेख है। यह अभिषिक्त—सिंहासनारूढ़ हुआ व्यक्ति **ऋताषाट्**=(ऋतं सत्यं सहते, असत्ये कुपितो भवतीत्यर्थः) अपने राष्ट्र में सत्य व्यवहार को ही सहन करता है, असत्य को नहीं। राष्ट्र में से असत्य के उन्मूलन के लिए ही उसका राज्याभिषेक हुआ है। २. इस असत्य के उन्मूलन के लिए यह पहले अपने जीवन में से असत्य का उन्मूलन करता है। असत्य का उन्मूलन करके यह **ऋतधामा**=स्वयं ऋत का धाम बनता है। अपने जीवन में से अनृत को दूर करता है तभी ३. **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रेणी बन पाता है। स्वयं अवनत राजा प्रजा को उन्नत नहीं कर सकता। स्वयं ऋत का धाम बनकर अग्नि की भाँति यह राष्ट्र के सब मलों को भस्म करनेवाला होता है। ४. और **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है अथवा (गां भूमिम्) राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस 'ऋताषाड्' के **अप्सरसः**=(अप्सु सरन्ति) प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग **ओषधयः**=(उष दाहे) प्रजाओं में से दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। दोषों का दहन करके ही वे **मुदः नाम**=मुद् नामवाले होते हैं (मोदन्ते जना याभिः) सारी प्रजा का अनुरञ्जन—मोद करनेवाले होते हैं। ६. **सः**=ऐसा—इस प्रकार के अप्सरोंवाला यह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व शक्ति को **पातु**=रक्षित करे। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजा को मस्तिष्क के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला बनाए तथा

शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ व सबल बनाए। आदर्श मनुष्य वे ही हैं जिनके मस्तिष्क व शरीर दोनों उन्नत हैं। ७. इस राजा के लिए **स्वाहा**=(स्व+हा) हम धन का त्याग करते हैं, अर्थात् उचित कर आदि देते हैं, परन्तु उस कर-प्राप्त धन को यह राजा **वाट्** (वहति प्रजां प्रापयति)=प्रजाओं के लिए ही फिर से प्राप्त करानेवाला होता है। ८. **ताभ्यः स्वाहा**=उन प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्षों के लिए भी हम (स्वाहा=स्व-हा) अपने सुख आदि का त्याग करते हैं, अर्थात् जब वे राष्ट्रीय कार्य से हमारे बीच में उपस्थित होते हैं तब हम उन्हें अधिक-से-अधिक सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—राजा 'ऋताषाट्, ऋतधामा, अग्नि व गन्धर्व' हो। उसके अध्यक्ष 'ओषधि व मुद्' हों। ये प्रजा के ब्रह्म व क्षत्र की रक्षा करें। प्रजाएँ राजा को कर दें। राजा उस कर का प्रजाहित में ही विनियोग करे। प्रजाएँ अप्सरों को कार्य में सुविधा पहुँचाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

संहितः विश्वसामा

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम। स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥३९॥

१. **संहितः**=(सन्दधाति) यह सम्राट् अपनी प्रजाओं में अधिक-से-अधिक मेल पैदा करता है। इसके राष्ट्र में वर्ण, जाति व धर्म के नाम पर लोग परस्पर लड़ते नहीं रहते। २. **विश्वसामा**=(विश्वानि सर्वाणि सामानि यस्य) यह सम्राट् सम्पूर्ण सामोंवाला होता है, प्रजा-सान्त्वन के उपायोंवाला होता है। ३. **सूर्यः**=इसी उद्देश्य से निरन्तर गतिवाला (सरति) तथा सूर्य के समान अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाला होता है। प्रजाओं के अन्धकार को दूर करके ही यह उनमें मेल व शान्ति की स्थापना करता है। ४. इस प्रकाश के फैलाने के लिए यह 'गन्धर्वः' वेदवाणी का धारण करनेवाला होता है और वेदवाणी के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष (अप्सर) भी **मरीचयः**=सूर्य-किरणों के समान ही (म्रियते तमो यैः) अन्धकार को दूर करनेवाले होते हैं, प्रजा में शिक्षा का विस्तार करते हैं और इस प्रकार **आयुवः नाम**='आयुवः' नामवाले होते हैं (आसमन्तात् युवन्ति) सारी प्रजाओं में गुणों का सम्पर्क व अवगुणों का पार्थक्य करनेवाले होते हैं ६. **सः**=ऐसा वह राजा **नः**=हमारे **ब्रह्म क्षत्रम्**=ज्ञान व बल की **पातु**=रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=उस कर को वह प्रजाहित के लिए ही प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=हम उन अध्यक्षों के लिए भी अपने सुख को छोड़कर उन्हें कार्य में सुविधा प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—राजा प्रजा में मेल पैदा करे। सम्पूर्ण शान्ति के साधनों का प्रयोग करे। सूर्य की भाँति गतिशील व अन्धकार-विनाशक हो। राष्ट्र का धारण करे। इसके अध्यक्ष भी तेज के ही त्रसरेणु हों—प्रजा में से अवगुणों को दूर करके गुणों का स्थापन करनेवाले हों। यह राजा हमारे ज्ञान व बल की रक्षा करे। इसे हम कर दें। यह कर का विनियोग प्रजाहित के लिए करे। हम अध्यक्षों के लिए अपने आराम को छोड़नेवाले होकर उन्हें सहायता दें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**चन्द्रमाः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिः

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम। स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४०॥

१. यह सम्राट् **सुषुम्णः**=(शोभनं सुम्णं यस्य) उत्तम स्तोमोंवाला तथा प्रजा को उत्तम सुख पहुँचानेवाला होता है। वस्तुतः प्रजारञ्जनात्मक स्वधर्म से ही यह प्रभु का स्तवन करता है २. **सूर्यरश्मिः**=प्रभु के उपासन से यह सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है ३. **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे, चन्दति चन्दयति वा) सदा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता है और सारी प्रजा को आनन्दित करने का प्रयत्न करता है ५. **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करता है और उस वेद के अनुसार राष्ट्र का भी धारण करनेवाला बनता है। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग (अप्सु सरन्ति) **नक्षत्राणि**=(नक्षन्ते त्रायन्ते) सदा गतिशील होते हैं और प्रजा का रक्षण करते हैं। इस प्रजा के रक्षणात्मक कार्य के लिए ही **भेकुरयः नाम**=(भाकुरयः) प्रजा के अन्दर प्रकाश फैलानेवाले होते हैं, अतः इनका नाम ही 'भेकुरि' हो जाता है। सूर्य के समान ज्ञान की रश्मियोंवाले होकर ये प्रजा के अज्ञानान्धकार को क्यों न दूर करेंगे? ६. **सः**=वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदम्**=इस **ब्रह्म**=ज्ञान को तथा **क्षत्रम्**=बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=कररूप धन **हा**=देनेवाले हों। ८. **वाट्**=राजा उस कर को प्रजाहित में विनियुक्त करता हुआ उसे फिर से प्रजा को प्राप्त करानेवाला हो। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उस राजा के अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम का त्याग करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजा को उत्तम राज्य-व्यवस्था के द्वारा आनन्दित करता हुआ सच्चा प्रभु-स्तवन करता है। सूर्य के समान ज्ञानरश्मियों को चारों ओर फैलाता है। स्वयं आनन्दमय मनोवृत्तिवाला होता हुआ प्रजा को आनन्दित करता है। वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करता है। उसके अध्यक्ष लोग भी गतिशील, प्रजा-रक्षक व प्रकाश को चारों ओर फैलानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**स्वराड्विकृतिः**[क], **ब्राह्म्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

इषिरो विश्वव्यचाः

इ॒षिरो॒ वि॒श्वव्य॑चा॒ वातो॑ गन्ध॒र्वस्तस्यापो॑ऽअ॒प्स॒र॒स॒ऽऊर्जो॒ नाम॑।
स न॑ऽइ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्य॒ः स्वाहा॑॥४१॥

१. यह सम्राट् **इषिरः**=(क्षिप्रः इष गतौ) शीघ्रता से गतिवाला होता है। अपने सब कार्यों को निरालस्यता से करनेवाला होता है। २. **विश्वव्यचा**=(विश्वस्मिन् व्यचो गमनं यस्य) सारे राष्ट्र में निरीक्षण के लिए जानेवाला होता है। ३. **वातः**=वायु के समान निरन्तर गतिवाला होता है। गति के द्वारा सारी बुराइयों का उच्छेदन करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=इस गतिशीलता से वेदज्ञान का धारण करनेवाला बनता है और उस वेदज्ञान के अनुसार ही राष्ट्र का धारण करता है। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=प्रजाओं में विचरण करनेवाले अध्यक्ष लोग भी **आपः**=(आप् व्याप्तौ) जलों की भाँति व्यापक व शान्त गतिवाले होते हैं **ऊर्जः नाम**=ये प्रजा के बल व प्राणशक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ६. **सः**= वह सम्राट् **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=ज्ञान व बल को बढ़ाए। ७. **तस्मै स्वाहा**=उसके लिए हम कर दें। ८. **वाट्**=राजा उस कर को फिर से प्रजाओं का पालन करने के लिए प्राप्त कराता है। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक बनें।

भावार्थ—राजा गतिशील, क्रियाशील हो। अध्यक्ष क्रियाशील हों। प्रजा को भी क्रियाशील बनाकर बल व प्राणशक्ति सम्पन्न करें।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुज्युः सुपर्णः

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरसः स्तावा नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४२॥

१. सम्राट् का पहला कर्त्तव्य **भुज्युः** शब्द से सूचित हो रहा है। 'भोजयते' यह सबके भोजन की व्यवस्था करनेवाला होता है। आपस्तम्ब के शब्दों में **'नास्य विषये क्षुधाया अवसीदेत्'** इसके राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति भूख से अवसन्न न हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि राष्ट्र में कभी अकाल की स्थिति न हो। २. यह **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला है। यह सम्राट् राष्ट्र का रक्षण करता है और न्यूनताओं को दूर करता है। ३. **यज्ञः**=(यज् संगतिकरण) यह प्रजाओं के साथ मेल करनेवाला होता है। ४. **गन्धर्वः**=यह राजा वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और वेदवाणी के अनुसार राष्ट्र का धारण करनेवाला हो। ५. **तस्य**=उस सम्राट् के **अप्सरसः**=अध्यक्ष **दक्षिणा**=अपने कार्यों में बड़े चतुर (Dexterous) होते हैं। प्रजा की मनोवृत्ति को समझते हुए बड़ी कुशलता से, प्रजा-कार्यों के साधक होते हैं, अतएव **स्तावा नाम** (स्तूयन्ते)=प्रजाओं से प्रशंसित होकर 'स्तावा' नामवाले होते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु**=इस ज्ञान व बल की रक्षा करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के लिए हम **स्व**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। ८. वह राजा **वाट्**=प्रजाहित के लिए ही इस धन का विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए भी हम अपने स्वार्थ को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में कोई भूखा न मरे। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि प्रजा के जीवन में न्यूनताएँ उत्पन्न न हों। अध्यक्ष कुशलता से कार्य करें। इतनी कुशलता से कि वे प्रजा में प्रशंसित हों।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**विश्वकर्मा**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रजापतिः विश्वकर्मा

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरसऽएष्टयो नाम।
स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥४३॥

१. सम्राट् का कर्त्तव्य एक शब्द में यह है कि वह **प्रजापतिः**=प्रजा का पालक हो। प्रजा-रक्षा के उद्देश्य से ही राजा ने उस-उस कार्य को करना है। २. **विश्वकर्मा**=यह राजा सब कार्यों को करनेवाला हो। यह किसी कार्य को छोटा न समझे। ३. **मनः**=यह राजा अत्यन्त मननशील हो और सदा विचारपूर्वक ही कार्यों को करनेवाला हो। विशेषकर 'कानून बनाना व दण्ड देना' ये दो कार्य तो अत्यधिक विचार की अपेक्षा रखते हैं। ४. यह विचारशील राजा **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला हो और उसके अनुसार इस राष्ट्रभूमि का धारण करे। ५. **तस्य**=उस राजा के **अप्सरसः**=अध्यक्ष लोग **ऋक्सामानि**=विज्ञान (ऋक्) व उपासना-(साम)-वाले हों। 'ऋक्' शब्द उनके ज्ञान व क्रिया का संकेत करता है और 'साम' श्रद्धा का सूचक है। इस विद्या व श्रद्धा के द्वारा **एष्टयः नाम**=(आ समन्तात् इष्टयो येषाम्) ये सदा यज्ञोंवाले होते हैं, उत्तम कर्मों को करनेवाले होते हैं। दूसरे शब्दों में इन अध्यक्ष लोगों के जीवन में ज्ञान, श्रद्धा व कर्म का सुन्दर समन्वय होता है। ये मस्तिष्क, हृदय व हाथों—सबकी शक्ति का विकास करते हैं। ६. **सः**=वह राजा **नः**=हमारे **इदं ब्रह्म क्षत्रम्**=इस ज्ञान व बल को **पातु**=सुरक्षित करे। ७. **तस्मै स्वाहा**=उस राजा के

लिए हम **स्वः**=धन का कर के रूप में **हा**=त्याग करें। वह राजा **वाट्**=इस धन को फिर प्रजा को ही प्राप्त करानेवाला हो, प्रजाहित के लिए ही उसका विनियोग करे। ९. **ताभ्यः स्वाहा**=उन अध्यक्षों के लिए हम स्वार्थ का त्याग करते हैं, अपने आराम को छोड़कर उनके कार्यों में सहायक होते हैं।

भावार्थ—राजा अपना मूल कर्म 'प्रजा-रक्षण' समझे। वह स्वयं सब कर्मों को करता हुआ प्रजा में श्रम के आदर को बढ़ाए।

ऋषिः—**देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

भुवनपति-प्रजापति

स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य तऽउपरि गृहा यस्य वेह।
अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा॥४४॥

१. **भुवनस्य पते**=घरों के स्वामिन् तथा **प्रजापते**=उन घरों में रहनेवाली प्रजाओं के रक्षक! (क) यहाँ 'भुवनस्य पते' यह सम्बोधन स्पष्ट संकेत कर रहा है कि सब घरों का स्वामी सम्राट् ही है। राजा ने सारी प्रजा को रहने के लिए उचित घर प्राप्त कराना है। राजा इस बात का ध्यान करे कि किसी को भी सड़क के किनारे न सोना पड़े। (ख) राजा घर देता है, घर में रहनेवालों की चोर आदि से रक्षा करता है। राष्ट्र में चोर-डाकुओं के भय से प्रजा की नींद नष्ट नहीं हो जाती है। २. **सः**=वह तू **यस्य ते**=जिस तेरे **उपरि गृहाः**=ऊपर भी घर हैं और **यस्य वा इह**=जिसके यहाँ भी घर हैं, अर्थात् जिस तूने पर्वतों पर भी घरों का निर्माण किया है और यहाँ मैदानों में भी घरों का निर्माण किया है, ऐसा तू **नः**=हमारे लिए **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा **अस्मै क्षत्राय**=इस बल के संवर्धन के लिए **महि**=महनीय, प्रशंसनीय **शर्म**=घर (शर्म=House) **यच्छ**=दे। राजा प्रजा को इस प्रकार के घर प्राप्त कराए, जो घर स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर होकर बल की वृद्धि का कारण बनें। उन घरों के अन्दर स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले बनकर हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले हों। जिन घरों में सूर्य-किरणों का पर्याप्त प्रवेश नहीं होता वे न स्वास्थ्य के लिए उत्तम होते हैं, न ही ज्ञानवर्धक कार्यों के लिए अनुकूल होते हैं। ३. हे राजन्! ऐसे तेरे लिए **स्वाहा**=हम सब प्रजाएँ कर देनेवाली हों और तू भी **स्वाहा**=प्रजाओं के हित के लिए अपने सब स्वार्थों व सुखों की आहुति दे देनेवाला हो।

भावार्थ—राजा प्रत्येक प्रजावर्ग को स्वास्थ्य व वृद्धि के दृष्टिकोण से उत्तम घर प्राप्त करानेवाला हो।

सूचना—'यस्य ते उपरि गृहा वेह' इस मन्त्रभाग की यह भी भावना है कि जिस तेरा परलोक व इहलोक दोनों ही स्थानों में घर है। प्रजा का हित करनेवाला राजा इहलोक में भी प्रशंसित होता है और परलोक में भी स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला होता है। ऐसे राजा के राज्य में रहते हुए लोग 'सुख का निर्माण' करते हैं, अतः 'शुनःशेप' नामवाले होते हैं। इनके विषय में ही अगले नौ मन्त्रों में (४५ से ५३) हम अध्ययन करेंगे—

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्रभु की ओर

समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहावस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा॥४५॥

१. गतमन्त्रों की भावना के अनुसार अपने ज्ञान व बल का वर्धन करनेवाला व्यक्ति अपने जीवन को कैसा बनाता है? प्रभु प्रेरणा करते हैं कि **समुद्रः असि**=(स-मुद्) तू सदा प्रसन्नता के साथ रहता है। तेरा जीवन आनन्दमय होता है। सांसारिक सुख-दुःखों में, ज्ञान के कारण समवृत्तिवाला होकर तू अपने मनःप्रसाद को नष्ट नहीं होने देता। २. **नभस्वान्**=(क) (नभस्वान्=Both the worlds, Heaven and Earth) इस मानस प्रसाद व शारीरिक स्वास्थ्य के कारण ही जीवन को सुन्दर बनाकर तू उभय लोककल्याण को सिद्ध करता है। इस लोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयसवाला होता है। (ख) नभस्वान् (नभ्=to kill) तू नभस्वाला होता है, अर्थात् तू बुराई को मूल में ही समाप्त करनेवाला होता है (Nip the evil in the bud) ३. इस प्रकार बुराइयों को समाप्त करके तू अपने जीवन में अच्छाइयों को पनपानेवाला **आर्द्रदानुः**=(आर्द्र ददाति इति) सदा औरों के प्रति दयार्द्र हृदय को प्राप्त करानेवाला होता है। तेरे जीवन में 'मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा' रूप अत्यन्त कोमल गुणों का विकास व प्रकाश हो उठता है। अब तू ४. **शम्भूः**=ऐहिक सुख की भावना करनेवाला (शम्भू ऐहिकं सुखं भावयति प्रापयति) होता है तथा साथ ही **मयोभूः**=(पारलौकिकं सुखं भावयति) परलोक के सुख का भी साधन करता है। ५. ऐसा तू **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ। इसके लिए **स्वाहा**=तुझे स्व का त्याग करना होगा, अर्थात् प्रभु को वही प्राप्त करता है जो (क) प्रसन्न मनवाला (ख) अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाला तथा बुराइयों को समाप्त करके (ग) मैत्री, करुणा, मुदिता, व उपेक्षा आदि आर्द्र (प्रीतिपूर्ण) गुणों को समाज में प्राप्त करानेवाला होता है तथा जो (घ) शान्ति व कल्याण के भावन के लिए प्रयत्नशील होता है। ६. **मारुतः असि**=(मरुतः=मनुष्याः) तू सदा मनुष्यों का हित करनेवाला है, तेरा कोई भी कार्य प्रजा-पीड़न के लिए नहीं होता और **मरुतां गणः**=(मरुतः=प्राणाः) प्राणों का तू गण=पुञ्ज बनता है। प्राणपुञ्ज बनकर ही तो लोकहित-साधन सम्भव होता है। प्राणपुञ्ज बनकर तू ७. **शम्भूः मयोभूः**=ऐहिक व आमुष्मिक कल्याण को सिद्ध करता है, ऐसा तू **मा अभि वाहि**=मेरी ओर आ। **स्वाहा**=स्वार्थ को समाप्त कर और मुझे पा। प्रभु को वही पाता है जो मानवहित के लिए अपने को खपा देता है। इस हित के लिए ही प्राण-साधना करके सशक्त बना रहता है। ८. **अवस्यूः असि**=(अवः सीव्यति इति अवस्यूः) तू अपने जीवन में रक्षण-तन्तु का सन्तान करनेवाला है। तू कभी अपने को वासनाओं का शिकार नहीं होने देता। ९. **दुवस्वान्**=वासनाओं से रक्षण के लिए ही तू (दुवः=परिचरण) प्रभु की परिचर्यावाला होता है। प्रभु का उत्तमता से उपासन करता हुआ तू वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। १०. ऐसा तू **शम्भूः मयोभूः**=शान्ति व कल्याण को उत्पन्न करता हुआ **मा अभिवाहि**=मेरी ओर आ और इसके लिए **स्वाहा**=स्व को समाप्त कर दे। अपने को मेरे प्रति अर्पण कर दे।

भावार्थ—सुख प्रभु-प्राप्ति में है। प्रभु-प्राप्ति 'समुद्र-नभस्वान्-आर्द्रदान्-मारुत-मरुतां गण-अवस्यू-दुवस्वान् व शम्भू तथा मयोभू को ही होती है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

रुचे जनाय

यास्तेऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥४६॥

१. शुनःशेप प्रभु की गतमन्त्र की प्रेरणा को सुनकर प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हम

सबको उन्नत करनेवाले प्रभो! **याः**=जो **ते**=तेरी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, जो दीप्तियाँ **दिवमातन्वन्ति**=प्रकाश को चारों ओर विस्तृत करती हैं, **ताभिः सर्वाभीः रश्मिभिः**=उन सब प्रकाश की किरणों से **नः**=हमें **रुचे**=दीप्ति व प्रीति के लिए तथा **जनाय**=(जनी प्रादुर्भावे) प्रादुर्भाव व विकास के लिए **कृधि**=कीजिए। २. (क) हमारा ज्ञान सूर्य की दीप्तियों के समान हो। (ख) यह ज्ञान हममें परस्पर प्रीति पैदा करनेवाला हो। वेद के शब्दों में ज्ञान तो है ही वह जो परस्पर संज्ञान व ऐकमत्य को पैदा करता है तथा हमारी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। जिसको प्राप्त करके हम परस्पर लड़ने लगते हैं, वह ज्ञान न होकर 'अज्ञान' है।

भावार्थ—(क) सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्त हो। (ख) हम इस ज्ञान से परस्पर प्रीतिवाले हों और (ग) यह ज्ञान हमारी शक्तियों के विकास का कारण बने।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्राग्नी+बृहस्पति

या वो॑ देवाः॒ सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभि॒: सर्वा॑भी॒ रुच॑ं नो धत्त बृहस्पते॥४७॥

१. हे **देवाः**=दिव्य गुणों से द्योतमान देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **सूर्ये**=सूर्य में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **बृहस्पते**=(ब्रह्मणस्पते) हे सम्पूर्ण ज्ञान के अधिपति प्रभो! आपकी कृपा से ये सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे जीवन में इस प्रकार समन्वित हों कि हम दीप्त ज्ञानवाले बनें। सूर्य के समान हमारा ज्ञान दीप्तिवाला हो। २. हे **देवाः**=देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **गोषु**=गौवों में व ज्ञानेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ हैं **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचः**=दीप्ति को **धत्त**=धारण करो। **अग्ने**=हे अग्नि के समान प्रकाशमान प्रभो! सब दोषों का दहन करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से सब देव हमें इन गौओं के सात्त्विक दुग्ध से सात्त्विक ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनाइए। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाली हों। ३. हे **देवाः**=हे देवो! **याः**=जो **वः**=आपकी **अश्वेषु**=घोड़ों में-कर्मेन्द्रियों में **रुचः**=दीप्तियाँ है, **ताभिः सर्वाभिः**=उन सब दीप्तियों से **नः**=हममें **रुचम्**=दीप्ति को **धत्त**=धारण कीजिए। हे **इन्द्र**=बल के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो ! आपकी कृपा से मैं अश्वादि वाहनों का भ्रमण में यथोचित प्रयोग करता हुआ अपने में इस प्रकार शक्ति का वर्धन करूँ कि मेरी कर्मेन्द्रियाँ सदा दीप्तिमय कर्मों को करनेवाली हों। निरन्तर क्रियाशीलता से मेरी कर्मेन्द्रियाँ दीप्त रहें।

भावार्थ—(क) बृहस्पति मुझे सूर्य के समान ज्ञान से दीप्त करे। (ख) अग्नि की कृपा से मैं उत्तम गौवों के सात्त्विक दुग्ध—प्रयोग से ज्ञान-ग्रहण—पटु ज्ञानेन्द्रियोंवाला बनूँ। (ग) इन्द्र के अनुग्रह से मैं अश्वों द्वारा उचित व्यायाम करता हुआ अपनी कर्मेन्द्रियों को सशक्त बनाऊँ। मेरे सब कार्य शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

ब्रह्म+क्षत्रिय+विट्+शूद्र

रुच॑ं नो धेहि ब्राह्मणेषु॒ रुच॒ꣳराज॑सु नस्कृधि।
रुच॒ं विश्ये॑षु शू॒द्रेषु॒ मयि॑ धेहि रु॒चा रुच॑म्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र के 'देवाः' पद को ही यहाँ अनुवृत्त करके प्रार्थना इस रूप में है कि हे **देवाः**=सब देवो ! आप **नः**=हमारे राष्ट्र के **ब्राह्मणेषु**=ब्रह्मज्ञान के देनेवाले सब विद्वानों में **रुचम्**=ज्ञान की दीप्ति को **धेहि**=धारण कीजिए। एक-एक देव हमारे ब्राह्मणों को ज्ञान से दीप्त करनेवाला हो। २. **नः**=हमारे **राजसु**=रक्षणात्मक कर्मों से प्रजा का रञ्जन करनेवाले क्षत्रियों में **रुचम्**=बल की दीप्ति को **कृधि**=कीजिए। आपकी कृपा से हमारे क्षत्रिय दीप्त बलवाले होकर प्रजा रक्षणात्मक कार्यों से प्रजा का अनुरञ्जन करते हुए सचमुच 'राजा' इस अन्वर्थक नामवाले हों। ३. हे सब देवो! आप **विश्येषु**=हमारे सब वैश्यों में **रुचम्**=धन की दीप्ति को धारण कीजिए। ये सदा सुपथ से 'स्व' (धन) का संचय करते हुए स्वराष्ट्र को सम्पन्न व सुखी बनानेवाले हों। ४. हे देवो! आप **शूद्रेषु**=(शू द्रवति) शीघ्रता से कार्यों में द्रुत होनेवाले हमारे इन शूद्रों में **रुचम्**=श्रमजनित दीप्ति को धारण कीजिए। आपकी कृपा से ये सदा अनसूया (प्रसन्नता) से श्रम करनेवाले हों। अपने श्रम से ये ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यों के कार्यों की पूर्ति में सहायक हों। ५. हे प्रभो! आप कृपया **मयि**=मुझमें **रुचा**=इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों की 'ज्ञान, बल, धन व श्रम' की दीप्तियों से **रुचम्**=दीप्ति **धेहि**=स्थापित कीजिए।

भावार्थ—हममें ब्राह्मणों की ज्ञान दीप्ति हो। हम क्षत्रियों के बल को धारण करें, वैश्यों की सुसम्पत्तिवाले हों। शूद्रों के श्रम को हम मान देनेवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

आयु का अप्रमोषण

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा नऽआयुः प्रमोषीः॥४९॥

१. शुनःशेप प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ब्रह्मणा वन्दमानः**=ज्ञान से स्तुति करता हुआ **त्वा**=आपसे **तत् यामि**=यह प्रार्थना करता हूँ कि **नः**=हमारे **आयुः**=जीवन को **मा**=मत **प्रमोषीः**=नष्ट होने दीजिए। २. **यजमानः**=यज्ञ के स्वभाववाला—स्वभावतः यज्ञ करनेवाला **हविर्भिः**=आहुतियों के द्वारा सदा दानपूर्वक अदन करते हुए—यज्ञशेष का सेवन करते हुए **तत् आशास्ते**=यही चाहता है कि हे **वरुण**=हमारी सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! हमें श्रेष्ठ बनानेवाले प्रभो! (**वारयति इति वरुणः, वरुणः**=श्रेष्ठ) **उरुशंस**=महान् स्तुतिवाले प्रभो ! **अहेडमानः**=हमपर क्रोध न करते हुए **इह**=इस मानव-जीवन में **बोधि**=हमें (बुध्यस्व) बोधयुक्त कीजिए। आपकी कृपा से हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो और आप **नः आयुः मा प्रमोषीः**=हमारे आयुष्य को व्यर्थ न होने दीजिए। ३. वस्तुतः आयुष्य की सार्थकता इसी में है कि हम (क) ज्ञान प्राप्त करें (ब्राह्मण) (ख) प्रभु का वन्दन करनेवाले हों तथा (ग) यज्ञशील बनें (यजमानः) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का समन्वय ही जीवन को सुन्दर बनाता है। 'मस्तिष्क, हाथ व हृदय' तीनों का विकास जीवन को अव्यर्थ करता है।

भावार्थ—जो अपने में ज्ञान, उपासना व कर्म का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता वह अपने जीवन को व्यर्थ में ही नष्ट करता है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

जीवन की सार्थकता

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा॥५०॥

१. गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी कि हे प्रभो! हमारे जीवन को व्यर्थ नष्ट मत होने दीजिए। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु जीव से जीवन को सार्थक बनाने के लिए पाँच बातें कहते हैं— **स्वः न घर्मः**=सूर्य की भाँति तू गरमीवाला हो (स्वः=स्वयं राजमानज्योति, अर्थात् सूर्य) तुझमें प्राणों की उष्णता हो। प्राणशक्ति की वृद्धि से तेरा यह अन्नमयकोश तेजस्वी हो। **स्वाहा**=इस शक्ति की उष्णता प्राप्त करने के लिए तू 'स्व' का **हा**=त्याग करनेवाला बन। सुख व आराम को छोड़कर तप की अग्नि में अपने को आहुत कर। २. **स्वः न**=सूर्य की भाँति। जैसे सूर्य निरन्तर अपने कार्य में लगा हुआ है उसी प्रकार तू भी अपने कार्य में प्रवृत्त हुआ-हुआ **अर्कः**=(अर्च पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवाला बन। तेरे इस प्राणमयकोश में सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य सुन्दरता से करती हुई उस प्रभु की पूजा करनेवाली हों। **स्वाहा**=तू अपने इन इन्द्रियों को **स्व**=अपने-अपने कार्य में **हा**=आहुत करनेवाला बन। ये अपने-अपने कार्य में लगी रहें, आराम न करने लग जाएँ। ३. **स्वः न**=सूर्य की भाँति ही **शुक्रः**=(शुच दीप्तौ) तू अपने मनोमयकोष में अत्यन्त निर्मल बन। सब मैलों को दूर भगाकर पवित्र हो जा। **स्वाहा**=तू अपने सब मलों को भस्म कर दे। ४. अब अपने विज्ञानमयकोष में **स्वः न**=इस चमकते हुए सूर्य की भाँति **ज्योतिः**=तू ज्योतिर्मय हो। ज्ञान को बढ़ाकर सूर्य की भाँति चमकनेवाला बन। **स्वाहा**=इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सब सुखों को त्यागनेवाला हो। सुखों को त्यागकर ही तू ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ५. अन्त में **स्वः न**=इस देदीप्यमान सूर्य की भाँति **सूर्यः**=तू भी सूर्य बन। 'सू प्रसवैश्वर्ययोः' सूर्य उत्पादन व ऐश्वर्य की देवता है। तू भी उत्पादन के द्वारा ऐश्वर्य का वर्धन करता हुआ आनन्द को प्राप्त कर। आनन्द का रहस्य निर्माण द्वारा ऐश्वर्य-वृद्धि में ही है। जीवन की सफलता की यही चरमसीमा है।

भावार्थ—(१) प्राणशक्ति की सफलता, (२) इन्द्रियों की रचनाकार्यवृत्ति, (३) मन की शुचिता, (४) मस्तिष्क की ज्योति तथा (५) उत्पादन द्वारा ऐश्वर्य वृद्धि—जीवन की सार्थकता इन्हीं पाँच बातों में है।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराडार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

'ब्रध्न विष्टपगमन'

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳसुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳस्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम्॥५१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ शुनःशेप निश्चय करता है कि मैं **अग्निम्**=सारे ब्रह्माण्ड के अग्रेणी प्रभु को **युनज्मि**=अपने साथ जोड़ता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु की उपासना करनेवाला बनता हूँ। २. प्रभु की उपासना मैं **शवसा**=गति के द्वारा (शवतिः गतिकर्मा) उत्पन्न बल से (शवः=बलम्) करता हूँ। मैं क्रियाशील बनता हूँ, क्रियाशीलता से मुझमें शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्ति से मैं प्रभु की पूजा कर पाता हूँ। ३. **घृतेन**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) सब प्रकार के मलों के क्षरण से उत्पन्न हुई-हुई दीप्ति से

मैं उस प्रभु को अपने साथ जोड़ता हूँ। वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति के मूलसाधन यही हैं कि हम (क) तेजस्वी बनें तथा (ख) निर्मल व दीप्त मनवाले हों। ४. इस नैर्मल्य व दीप्ति से मैं उस प्रभु को प्राप्त करता हूँ जो **दिव्यम्**=(दिवि भवः) सदा प्रकाश में स्थित हैं। (द्युषु शुद्धेषु भवः) शुद्ध अन्तःकरणवालों में ही जिनका प्रकाश दीखता है। ५. जो प्रभु **सुपर्णम्**=बड़ी उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु ने हमारे पालन की कितनी सुन्दर व्यवस्था की है! वे प्रभु सदा उत्तम प्रेरणा देते हुए हमारी न्यूनताओं को दूर कर रहे हैं। ६. **वयसा**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) इस जगत्-तन्तु के विस्तार से **बृहन्तम्**=बढ़े हुए हैं, अर्थात् इस अनन्त-से प्रतीयमान संसार का विस्तार करके वे प्रभु अपनी महिमा को बढ़ानेवाले हैं। ७. **तेन**=इस प्रभु के उपासन से **वयम्**=हम **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=महान् सूर्य के (विगतः तापो यत्र) तापशून्य सुखमय लोक को, स्वर्गलोक को **गमेम**=प्राप्त हों। ८. अब **स्वः रुहाणा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म की ओर आरोहण करते हुए **उत्तमम्**=सर्वोत्तम जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं उस **नाकम्**=(न अकं यत्र) दुःख के लवलेश से भी शून्य, आनन्दमय ज्योति, ब्रह्म को **अधिगमेम**=प्राप्त हों, अर्थात् उस ब्रह्म में विचरते हुए मोक्ष के आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—१. हम क्रियाशीलता से शक्तिसम्पन्न बनें और ईर्ष्यादि मलों को त्यागकर मन को दीप्त करें। २. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए स्वर्गलोक को प्राप्त करें और ३. (अधि) उससे भी ऊपर उठकर मोक्षसुख का अनुभव करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

अजर—पक्ष

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याꣳरक्षाꣳस्यपहꣳस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५२॥

१. प्रभु शुनःशेप से कहते हैं कि **इमौ**=गतमन्त्र में वर्णित ज्ञान की दीप्ति और बल (घृत+शवस्), ब्रह्म और क्षत्र **ते**=तेरे **अजरौ**=कभी जीर्ण न होनेवाले **पक्षौ**=पंख है, अथवा (पक्ष परिग्रहे) ये दो तेरे अविनश्वर परिग्रह हैं। २. **पतत्रिणौ**=ये तेरे उत्पतन=ऊर्ध्वगमन, उत्थान व उन्नति के कारणभूत हैं। ३. वस्तुतः हे **अग्ने**=उन्नति व अग्रगति के साधक जीव! ये तेरे वे पंख हैं, परिग्रह हैं **याभ्याम्**=जिनसे **रक्षांसि**=सब राक्षसी वृत्तियों को **अपहंसि**=तू दूर विनष्ट कर देता है। ज्ञान और बल के साथ बुराइयों का निवास नहीं है। सब मल अन्धकार व अज्ञान में पनपते हैं और सब विकार निर्बल को ही सतानेवाले हैं। ४. **ताभ्याम्**=इन ज्ञान और बल से हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशालियों के **लोकम्**=लोक को **पतेम**=जाएँ। ५. उन लोकों में जाएँ **यत्र**=जहाँ **जग्मुः**=जाते हैं, कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, जिनके मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हैं। (ख) **प्रथमजाः**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत प्रादुर्भाववाले। जिनके हृदय अत्यन्त विस्तार व विकासयुक्त हैं। तंगदिली ने जिनकी सब उन्नतियों को समाप्त नहीं कर दिया है। (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) जो शरीर में बहुत पहले से होते हुए भी, अर्थात् बड़े दीर्घायुष्य को प्राप्त हुए भी, ९० व १०० साल में पहुँचकर भी नवीन से ही प्रतीत होते हैं, जिनमें बुढ़ापे के निशान प्रकट नहीं होते, इस प्रकार के सनत्कुमार लोग ही पुण्यशालियों के लोकों को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में बल को धारण करके राक्षसीवृत्तियों से दूर

होते हुए ऊपर उठते हुए उन लोकों को प्राप्त करें, जिनको पुण्यशील, तत्त्वज्ञानी ऋषि, विशाल-हृदय मुनि तथा पूर्ण स्वस्थ दीर्घजीवी पुण्यात्मा प्राप्त किया करते हैं।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**आर्षीपंक्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोने के पंखवाला पक्षी='हिरण्यपक्ष शकुन'

इन्दुर्दक्षः श्येनऽऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुवऽआ निषत्तो नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः॥५३॥

१. छियालीसवें मन्त्र से प्रारम्भ करके प्रस्तुत मन्त्र में शुनःशेप के जीवन का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह शुनःशेप **इन्दुः**=(इदि परमैश्वर्ये) परमैश्वर्यवाला होता है। पिछले मन्त्र के अनुसार ज्ञान और बल—ये इसके अक्षयकोष होते हैं और इन्हीं कोषों से वस्तुतः ये **इन्दुः**=चन्द्रमा की भाँति सभी को आह्लादित करनेवाला होता है। **२. दक्षः**=अपने जीवन में सदा उत्साहवाला—दक्षता से कार्यों को करनेवाला होता है। ३. **श्येनः**=(श्यैङ् गतौ) श्येन की भाँति यह अत्यन्त प्रशंसनीय गतिवाला होता है। ४. क्रियाशीलता के द्वारा ही यह **ऋतावा**=अपने जीवन में ऋत का अवन=रक्षण करता है। अनृत इसके जीवन में नहीं पनप पाता है। ५. **हिरण्यपक्षः**=हितरमणीय ज्योति का यह परिग्रह करनेवाला होता है। (पक्ष परिग्रहम्) अथवा ज्ञान ही इसके पंख होते हैं उनसे यह आकाश में ऊपर उठता है, उन्नति करनेवाला होता है। ६. **शकुनः**=(शक्नोति) यह शक्तिशाली होता है। ज्ञान के साथ शक्ति की साधना करता है। ७. अपनी इस शक्ति से यह **भुरण्युः**=(बिभर्ति) सबका भरण करता है। शक्ति की साधना करता है। शक्ति का विनियोग कभी भी उत्पीड़न में नहीं करता। ८. **महान्**= हृदय में यह विशाल होता है। ९. विशाल हृदय बनकर **सधस्थे**=परमेश्वर के साथ एक स्थान में स्थित होने के स्थान हृदय में **ध्रुवः**=स्थिर होकर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध करके **आ निषत्तः**=सर्वथा स्थित होता है। १०. **नमस्ते अस्तु**=मेरे हृदय में स्थित तेरे लिए नमस्कार हो **मा मा हिंसीः**=हे प्रभो! आप मुझे हिंसित मत होने दीजिए। आपकी कृपा से मेरा जीवन अहिंसित हो। व्यर्थ जीवनवाला न होकर मैं अपने जीवन में उन्नति करता हुआ आप तक पहुँचनेवाला बनूँ और इस प्रकार सुखमय लोक का निर्माण करूँ।

भावार्थ—मैं 'इन्दु, दक्ष, श्येन, ऋतावा, हिरण्यपक्षः, शकुन, भुरण्युः व महान्' बनकर चित्तवृत्ति को ध्रुव करता हुआ हृदय में प्रभु के साथ स्थित होऊँ। प्रभु का दर्शन करता हुआ प्रभु के प्रति नतमस्तक होऊँ और इस प्रकार अपने जीवन को चरितार्थ करूँ। अव्यर्थ जीवनवाला मैं वास्तविक सुख का निर्माण करूँ।

सूचना—प्रभु के साथ स्थित होनेवाला यह शुनःशेप निरन्तर प्रभु की ओर चलता है। प्रभु की ओर चलने से यह 'गच्छति इति गाः', 'गाः' कहलाता है। निरन्तर प्रभु की ओर चलता हुआ यह प्रभु का ही छोटा रूप बनता है, अतः 'लवः' होता है। इस प्रकार यह 'गालव' बनता है। गालव का जीवन निम्न मन्त्र में वर्णित हुआ है—

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**भुरिगार्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

'गालव' का जीवन

दिवो मूर्द्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम्।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे॥५४॥

१. हे प्रभु की ओर चलनेवाले और प्रभु का ही छोटा रूप बननेवाले 'गालव'! तू

दिवः मूर्द्धा असि=प्रकाश का शिखर है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऊँचे-से-ऊँचे स्थान में पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. **पृथिव्याः नाभिः**=तू इस शरीर का (पृथिवी शरीरम्) बाँधनेवाला है (नह बन्धने), अर्थात् शरीर को पूर्णरूप से नियन्त्रित करता है। शरीर को वशीभूत रखता हुआ ही तो तू स्वस्थ बनता है और ज्ञान-प्राप्ति की अनुकूलता को प्राप्त करता है। ३. **अपाम्**=जलों के तथा **ओषधीनाम्**=ओषधियों के **ऊर्क्**=बल व प्राणशक्तिवाला तू होता है। जलों व ओषधियों के प्रयोग से तू अपने अन्दर बल व प्राणशक्ति को प्राप्त करता है। ४. **विश्वायुः**=तू पूर्ण जीवनवाला होता है। १०० वर्ष के दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है तथा 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का विकास करके पूर्ण जीवनवाला होता है। ५. जीवन को पूर्ण बनाकर **शर्म**=तू शरण बनता है। दुःखी पुरुषों के दुःख का हरण करने के कारण उस दुःखी नरसमूह (नार) का अयन=शरण बनता हुआ तू (नारायण) हो जाता है। ६. **सप्रथाः**=तू सदा विस्तार के साथ होता है। अपने मन को कभी तंग नहीं होने देता। ७. इस प्रकार के जीवनवाला बनकर तू औरों के जीवन के लिए मार्गदर्शक बनता है। **पथे**=इस मार्ग बने हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो, तुझे आदर प्राप्त हो। अथवा इस प्रकार मार्ग बने हुए तेरे लिए नम्रता हो। कहीं लोगों से प्राप्त आदर के कारण तुझमें 'गर्व' न आ जाए।

भावार्थ—प्रभु की ओर चलनेवाला व्यक्ति १. ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है। २. शरीर को व्रतों के बन्धन में बाँधता है। ३. जलों व ओषधियों के प्रयोग से शक्तिशाली बनता है। ४. पूर्ण जीवनवाला बनता है। ५. दुःखी पुरुषों का शरण होता है। ६. हृदय को विशाल बनाता है। ७. लोगों के लिए आदर्श बनकर विनीत बना रहता है।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**इन्दुः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु का प्रीणन

विश्वस्य मूर्द्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त।
दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावः॥५५॥

१. **विश्वस्य**=सबके **मूर्द्धन्**=मूर्धास्थान में, अर्थात् सबसे आगे **अधितिष्ठसि**=तू स्थित होता है, अर्थात् गुणों को ग्रहण करते हुए व्यक्तियों में तू सबसे आगे बढ़ जाता है। **'मूर्द्धनि वा सर्वलोकस्य**=सब लोकों के मस्तक पर' यही तेरे जीवन का आदर्श वाक्य होता है। २. **श्रितः**=(श्रित् सेवायाम्, श्रितमस्य अस्तीति श्रितः) तू प्रभु की उपासना को अपनानेवाला होता है। इस प्रभु-उपासन से ही तुझमें दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। ३. **ते हृदयम् समुद्रे**=तेरा हृदय सदा आनन्दमय प्रभु में होता है, अर्थात् तू जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए संसार के सब कार्यों को करता हुआ भी अपने हृदय को प्रभु में ही रखता है। ४. इस प्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ **आयुः**=अपने जीवन को **अप्सु**=कर्मों में स्थापित करता है। ५. कर्मों को करता हुआ तू **अपः दत्त**=(ददासि—द०) अङ्ग-प्रत्यङ्ग को प्राणशक्ति देता है (आपः=रेतः=प्राणाः) इन कर्मों से तेरे अङ्ग शक्तिशाली बनते हैं और इस प्रकार तू उन अङ्गों को प्राणशक्ति दे रहा होता है। ६. एक-एक अङ्ग को सप्राण करता हुआ तू **उदधिं भिन्त**=(भिनत्सि—द०) ज्ञान-समुद्र का विदारण करता है। विश्लेषणात्मक (analytic) विधि से अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। ७. **ततः**=अब ज्ञान को बढ़ाने के बाद (क) **दिवः**=अपने इस प्रकाशमय मस्तिष्क से (ख) **पर्जन्यात् अन्तरिक्षात्**=(परां तृप्तिं जनयति) सद्भावना व सद् व्यवहार से दूसरों की प्रकृष्ट तृप्ति को पैदा करनेवाले हृदयान्तरिक्ष से, तथा (ग) **पृथिव्याः**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृतशक्तिवाले शरीर से **वृष्ट्याव**=लोगों

पर सुखों की वर्षा के द्वारा **नः**=हमें प्रीणित कर। प्रभु गालव से कहते हैं कि तू ज्ञान-सद्भावना व सत्कर्मों से लोकों के कष्टों के निवारण के द्वारा उनके जीवन को सुखी करेगा तो अपने इस व्यवहार से मुझे प्रसन्न कर रहा होगा।

भावार्थ—हम संसार में गुणों की दृष्टि से अपना स्थान प्रमुख बनाएँ। प्रभु का उपासन करें। हमारा हृदय प्रभु में हो, जीवन कर्मों में। अङ्ग-प्रत्यङ्ग को हम शक्ति प्राप्त कराएँ। ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करें। दीप्त मस्तिष्क, तृप्तिप्रद हृदय व सशक्त शरीर से सभी को सुखी करते हुए हम प्रभु को आराधित करें।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**आर्ष्युष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

आशीर्दा यज्ञः

इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः। तस्य नऽइष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहागमेः॥५६॥

१. **भृगुभिः**=(भ्रस्ज पाके) गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान-समुद्र का अवगाहन करके जो व्यक्ति अपने ज्ञान को परिपक्व करते हैं, उन ज्ञान-विदग्ध भृगुओं के द्वारा तथा **वसुभिः**=ज्ञान के द्वारा ही अपना उत्तम निवास बनानेवाले वसुओं के द्वारा **अशीर्दा**=हमारे सब मनोरथों को देनेवाला **यज्ञः इष्टः**=यज्ञ किया जाता है। २. मस्तिष्क के दृष्टिकोण से जो व्यक्ति 'भृगु' है, वही शरीर के दृष्टिकोण से 'वसु' है। यह 'भृगु-वसु' इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि इस मानव-जीवन को उत्तम बनाने का सर्वप्रमुख साधन 'यज्ञ' है। यही इस लोक व परलोक में कल्याण करनेवाला है। यज्ञ 'इष्टकामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं का पूरण करनेवाला है। वेद ने इसे 'आशीः-दा' शब्द से कहा है—इच्छा को देनेवाला। ३. हमारा धन इन यज्ञों में ही विनियुक्त हो। इस बुद्धि से 'गालव' प्रार्थना करता है कि हे **द्रविण**=धन! तू **तस्य**=उस **प्रीतस्य**=कमनीय, चाहने योग्य **इष्टस्य**=यज्ञ का होकर **इह**=यहाँ मानव—जीवन में **नः**=हमें **आगमेः**=प्राप्त हो, अर्थात् हम धन प्राप्त करें और इस धन का विनियोग उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में करें। यह यज्ञ हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी व स्वस्थ बनकर सदा यज्ञों को करनेवाले बनें। हमारा धन यज्ञात्मक कर्मों में ही विनियुक्त हो। ऐसा करने पर ही हम प्रभु को पाएँगे।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

हम यज्ञशील बनें

इष्टोऽअग्निराहुतः पिपर्त्तु नऽइष्टꣳहविः। स्वगेदं देवेभ्यो नमः॥५७॥

१. गालव प्रार्थना कहता है कि हमसे **अग्निः इष्टः**=यह अग्नि सदा किया जाए (यज्=संगतिकरण)। हम अग्नि को उत्तम घृत-हवि आदि पदार्थों से प्रीणित करनेवाले हों। २. **आहुतः**=हमारे द्वारा घृत-हवि आदि को प्राप्त कराया हुआ यह अग्नि **नः**=हमारा **पिपर्त्तु**=पालन व पूरण करनेवाला हो। यह आहुत अग्नि (क) वायुमण्डल की शुद्धि का साधन बनता है। (ख) यह रोगकृमियों का संहार करता है और इस प्रकार हमारे स्वास्थ्य का पालन करता है। (ग) यह अग्नि हमें सौमनस्य को देनेवाला होता है (घ) और वृष्टि के द्वारा उत्तम अन्न देकर हमारी आवश्यकताओं का पूरण करता है, अतः ३. हमारे अन्दर यज्ञ की वृत्ति बनी ही रहे और **नः**=हमें **हविः**=(हु दानादनयोः) यज्ञों में धन का विनियोग करके यज्ञशेष को खाने की वृत्ति ही **इष्टम्**=प्रिय हो। हम सदा यज्ञशेष खानेवाले ही बनें।

५. इस प्रकार **इदं स्वगा**=यह हमारा जीवन **स्व**=आत्मा की ओर **गा**=जानेवाला है। हम भौतिकता की वृत्तिवाले न बन जाएँ। हम अपने जीवन में यज्ञिय वृत्ति को अपनाकर प्रभु की ओर चलें और **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के धारण के लिए **नमः**=सदा नम्रता का धारण करनेवाले हों, देवों के प्रति नतमस्तक हों।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर 'स्व-गा' आत्मा की ओर चलनेवाले बनें। इस आत्मा की ओर चलते हुए हम उसी के छोटे रूप बनें। 'गा' और 'लव' बनें। गालव बनकर हम दिव्य गुणों के धारण के लिए नम्र बनें। नम्रता ही दिव्य गुणों की जननी है। इन दिव्य गुणों को पैदा करके ही हम महादेव को पाएँगे।

सूचनाः=महादेव की प्राप्ति के लिए देवों का अपने में निर्माण करता हुआ यह 'गालव' 'विश्वकर्मा' बन जाता है, 'विश्वकर्मा' देवशिल्पी है। अब इस विश्वकर्मा ऋषि के मन्त्र आते हैं—

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदार्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आकूत-हृत्-मनस्-चक्षु

यदाकूतात्समसुस्त्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वा।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥५८॥

यत्=जो **आकूतात्**=(मनः प्रवर्तक आत्मनो धर्म आकूतम्) मनः प्रवर्तक आत्मधर्म से—आत्मा के संकल्प से, अपने दृढ़ निश्चय से **समसुस्त्रोत्**=(स्रु गतौ—गति=प्राप्ति) प्राप्त होता है। **वा**=अथवा **हृदः**=हृदयस्थ श्रद्धा से **संभृतम्**=सम्यक्तया धारण किया जाता है **वा**=या **मनसः**=मनन के द्वारा पुष्ट होता है, **वा**=तथा **चक्षुषः**=प्रकृति में रचना-सौन्दर्यादि के दर्शन से संभृत होता है, अर्थात् 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, श्रद्धा-मनन व प्रकृति में प्रभु-महिमा का दर्शन'-ये सब वस्तुएँ मिलकर हमें उस प्रभु का दर्शन कराती हैं। २. **तत् अनु**=उसके अनुसार ही **प्रेत**=इस संसार में सब गति को करो, अर्थात् प्रभु की महिमा का दर्शन करते हुए ही और इस प्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए हम सब कर्मों को करनेवाले बनें। ३. ऐसा करने पर ही, अर्थात् जब हमारी सब क्रियाएँ प्रभु-स्मरण के साथ होंगी तब हम **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशीलों के **लोकम्**=लोक को प्राप्त होंगे। ४. उन लोकों को **यत्र**=जिनमें **जग्मुः**=जाते हैं। कौन? (क) **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग, ज्ञानी लोग। (ख) **प्रथमजाः**=गुणों की दृष्टि से आगे बढ़ते हुए प्रथम स्थान में स्थित होनेवाले लोग, तथा (ग) **पुराणाः**=(पुरापि नवाः) अत्यन्त पुराने, बड़ी उम्र के होते हुए भी जो नवीन हैं, अर्थात् जो युक्ताहार-विहारवाले तथा सब कर्मों में युक्तचेष्ट होते हुए कभी जीर्णशक्तिवाले नहीं होते। उनके मस्तिष्क का ज्ञान, हृदयस्थ विशालता (प्रथमता) तथा शरीर की अजीर्णशक्तिता ही उन्हें उन उत्तम लोकों की प्राप्ति का अधिकारी बनाती हैं। हम भी उन लोकों को प्राप्त करेंगे यदि प्रभुदर्शन करते हुए सब क्रियाओं को करनेवाले होंगे। इस प्रभु-दर्शन के लिए 'आत्मा का दृढ़ निश्चय, हृदय की श्रद्धा, मन द्वारा मनन व चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों से सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन' ये साधन हैं। तभी हम 'विश्वकर्मा' बनते हैं—'विश्व'=सर्वव्यापक प्रभु को देखते हुए कर्म करनेवाले।

भावार्थ—'आकूत, हृदय, मन व चक्षु' हममें प्रभु के भाव का सम्भरण करें। तदनुसार हम कर्म करें और 'प्रथमजा, पुराणा, सुकृत् ऋषियों के पुण्यलोकों को प्राप्त हों।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सुख का निधि 'यज्ञ'

एतꣳसधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वोऽअत्र तꣳस्म जानीत परमे व्योमन्॥५९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतम्**=इस यज्ञ को **सधस्थ**=मिलकर बैठने के स्थान में प्रातः-सायं उपस्थित होनेवाले **ते**=तेरे लिए **परि ददामि**=देता हूँ। वेद के अनुसार प्रत्येक घर में मुख्य कमरा 'हविर्धानम्'=अग्नि में हविर्द्रव्यों के डालने का, अर्थात् यज्ञ करने का होना चाहिए। इस 'अग्निहोत्र' का प्रातः-सायं घर में होना आवश्यक है। इस यज्ञवेदि में घर के सभी व्यक्तियों का उपस्थित होना आवश्यक है, अतः इस यज्ञवेदि को 'सधस्थ' कहा जाता है। इसमें आकर नियम से बैठनेवाले व्यक्तियों को भी यहाँ 'सधस्थ' शब्द से सम्बोधन किया गया है। प्रभु कहते हैं कि हे सधस्थ! इस यज्ञ को मैं तुझे देता हूँ। २. वस्तुतः यह यज्ञ क्या है? यह एक सर्वोत्तम निधि है **यम् शेवधिम्**=जिस सुख के कोश को **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु [मैं]-ने **आवहात्**=तेरे लिए प्राप्त कराया है। अपनी अल्पदृष्टि के कारण तू सम्भवतः यज्ञ के लाभ को न देख सके, परन्तु प्रभु जानते हैं कि यह तेरे लिए 'इष्टकामधुक्' है। तू इस यज्ञ के द्वारा इहलोक व परलोक दोनों में अपना कल्याण सिद्ध कर पाएगा। ३. इस यज्ञ को जीवन का अङ्ग बनाने पर तू अपने पिता प्रभु की उपासना कर रहा होता है। प्रभु-आदेश के पालन से उसका पूजन होता है। इसी बात को यहाँ मन्त्र के शब्दों में इस प्रकार कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ इस यज्ञशील जीवन में **यज्ञपतिः**=यज्ञों की रक्षा करनेवाला प्रभु **अन्वागन्ता**=यज्ञों के सिद्ध होने पर प्राप्त होगा। यज्ञपति प्रभु की वस्तुतः यज्ञों से ही उपासना होती है, **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। ५. **तम्**=उस प्रभु को **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयदेश में स्थित तथा इस विस्तृत आकाश में व्याप्त हुआ-हुआ **जानीत स्म**=निश्चय से जानो। यज्ञ के द्वारा जहाँ 'वायु-शुद्धि, नीरोगता व उत्तम अन्न की प्राप्ति' होती है, वहाँ 'सौमनस्य' का भी लाभ होता है और इस उत्तम निर्मल मन में ही प्रभु का दर्शन होता है। उस निर्मल मन में प्रभु का आभास मिलने पर उसकी महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, कण-कण में प्रभु का दर्शन होने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ने जीव को सृष्टि के प्रारम्भ में ही यज्ञ को प्राप्त कराया है। यह यज्ञ जीव के लिए सुख की निधि है। इसके अपनाने पर ही वह उस प्रभु को प्राप्त कर पाता है जो प्रभु सर्वत्र होते हुए प्रसाद-युक्त मन में ही देखे जाते हैं।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवताः—**प्रजापतिः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

देवयान-मार्गों से

एतं जानाथ परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद रूपमस्य।
यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्त्ते कृणवाथाविरस्मै॥६०॥

१. हे यज्ञशील व्यक्तियो! **एतम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयदेश में तथा इस निरवधिक आकाश में सर्वत्र व्याप्त **जानाथ**=जानो। २. हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले **देवाः**=यज्ञादि उत्तम व्यवहारों के करनेवाले विद्वान् पुरुषो! **अस्य**=इस सर्वत्र व्याप्त प्रभु के रूप को **विद**=जानो। यज्ञों से ही प्रभु का उपासन व दर्शन होता है। ३. **यत्**=जब मनुष्य **देवयानैः पथिभिः**=देवयान-मार्गों से **आगच्छात्**=चलता है और

इष्टापूर्त्ते=इष्ट और आपूर्त को **कृणवाथ**=करता है तब **अस्मै**=(क) देवयान-मार्ग पर चलनेवाले (ख) इष्ट और आपूर्त को करनेवाले इस व्यक्ति के लिए **आविः**=वे प्रभु प्रकट होते हैं। प्रभु का दर्शन देवयान-मार्ग पर चलनेवाले और इष्ट तथा आपूर्त को करनेवाले व्यक्ति को ही होता है। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए निम्न निर्देश हैं—(क) प्रभु का दर्शन परम व्योमन्, अर्थात् उत्कृष्ट हृदयदेश में होगा, अतः हृदय को पवित्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है। (ख) यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव ही प्रभु को जान पाते हैं, अर्थात् यज्ञादि पवित्र कर्मों में लगे रहना प्रभु-प्राप्ति का द्वितीय उपाय है। (ग) देवयान-मार्गों से चलना, अर्थात् देवताओं के योग्य कर्म ही करना प्रभु-प्राप्ति का तीसरा साधन है और (घ) इष्ट और आपूर्त में जीवन का यापन करनेवाले के लिए प्रभु प्रकट होते हैं। हम यज्ञ करें, दान दें, लोकहित के कार्यों में धन का विनियोग करें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम हृदयाकाश को पवित्र बनाएँ, यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले देव बनें, देवयानमार्ग से चलें और हमारा जीवन इष्टापूर्तमय हो।

ऋषिः—**गालवः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सधस्थ में स्थिति

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥६१॥

१. पिछले मन्त्र के 'इष्टापूर्त' का ही वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अग्ने**=अग्नि के उद्बोधन के बिना उसमें घृत व हवि का समर्पण 'भस्मनि हुतम्' इस वाक्यांश के अनुसार व्यर्थ ही है। **प्रतिजागृहि**=तू इस कुण्ड के कोने-कोने में जाग, अर्थात् अच्छी प्रकार प्रबुद्ध हो जा। यह सम्यक् उद्बुद्ध अग्नि ही अपने में डाले गये घृत और हविर्द्रव्यों को सूक्ष्म कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैलाएगा। अप्रचण्ड अग्नि में छेदन-भेदन की शक्ति उतनी प्रबल नहीं हो सकती। २. अब अग्नि के प्रचण्ड हो जाने पर **त्वम्**=हे अग्ने! तू **अयं च**=और यह यजमान मिलकर **इष्टापूर्त्ते**=इष्ट और आपूर्त के कर्मों को **सं सृजेथाम्**=सम्यक्तया करनेवाले बनो। यजमान घृत व हवि को अग्नि के साथ मिलाने (यज् संगतिकरण) के 'इष्ट' रूप कार्य को करे, अग्नि में इन पदार्थों की आहुति दे तथा अग्नि उन आहुत पदार्थों को अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त करके आदित्यमण्डल तक—सारे वायुमण्डल में **आ**=चारों ओर **पूर्त**=भर दे। 'इष्ट' यजमान का कार्य है, तो 'आपूर्त' अग्नि का। ३. घर के अन्दर जो 'हविर्धान'=अग्निहोत्र का कमरा है **अस्मिन् सधस्थे**=उस सधस्थ में—मिलकर बैठने के स्थान में **अधि उत्तरस्मिन्**=इस वेदिरूप सर्वोत्कृष्ट स्थान में **विश्वेदेवाः**=घर के सब देव **यजमानश्च**=और स्वभावतः यज्ञशील घर का मुखिया सब मिलकर **सीदत**=बैठें। घर में अग्निहोत्र को एक सामूहिक कार्य का रूप दिया जाए। उसमें घर के सभी सभ्य उपस्थित हों। ४. यह यज्ञवेदि 'सधस्थ है सबके मिलकर बैठने की जगह है। (क) इस स्थान पर घर के सभी व्यक्ति एकत्र होकर परस्पर धर्मसूत्र में बद्ध होते हैं। उन सबको यह यज्ञ परस्पर स्नेह व प्रेम में बाँधनेवाला बनता है। (ख) इसलिए भी सधस्थ होना चाहिए कि प्रभु के उपासन के समय घर में केवल उपासन का ही कार्य हो, अन्य कोई कार्य न हो। ५. यह उत्तर-सर्वोत्कृष्ट स्थान है, चूँकि इस स्थान पर (क) प्रभु उपासन होता है, (ख) वायु अत्यन्त शुद्ध होती है (ग) श्वास के साथ अन्दर गये हुए सूक्ष्म औषध द्रव्य रोगों का दहन करते हुए हमें नीरोग बनाते हैं। ६. इस प्रकार यह यज्ञ हमें उन्नत करता हुआ

प्रभु की ओर ले-चलता है और क्रमशः उन्नत होते हुए हम प्रभु का ही छोटा रूप बनते हैं और मन्त्र के ऋषि 'गालव' होते हैं, प्रभु की ओर जानेवाले, उसी के छोटे रूप।

भावार्थ—उद्बुद्ध अग्नि में हम सब मिलकर यज्ञिय पदार्थों की आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**विश्वकर्माग्निर्वा**। छन्दः—**निचृदार्ष्युनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

सहस्र-वहन

येन॒ वह॑सि स॒हस्रं॒ येना॒ग्ने सर्ववेद॒सम्। तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्देवे॑षु॒ गन्त॑वे॥६२॥

१. पिछले मन्त्र में यह स्पष्ट है कि यजमान 'इष्ट' को करता है, तो अग्नि 'आपूर्त' को। अपने में पड़े हुए पदार्थों को अग्नि छोटे-छोटे कणों में विभक्त करके सर्वत्र फैला देता है। श्वासवायु के साथ उन कणों को सभी व्यक्ति अपने अन्दर लेते हैं और स्वास्थ्य आदि का लाभ करते हैं। दूसरे शब्दों में अग्नि हमारा ही भरण न करके हज़ारों का भरण करता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्ने! **येन**=क्योंकि **सहस्रं वहसि**=तू हज़ारों का ही धारण करता है, इतना ही नहीं, **येन**=चूँकि यज्ञ से पर्जन्य (बादल) के द्वारा वृष्टि करके तू अन्नादि की उत्पत्ति से **सर्ववेदसम्**=सब धनों को **वहसि**=प्राप्त कराता है, **तेन**=इसलिए **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः**=हमें **नय**=प्राप्त करा। २. यज्ञ के दो लाभ बड़े स्पष्ट हैं (क) एक तो यज्ञ के द्वारा उस वस्तु को अकेला न खाकर मैं सहस्रों के साथ मिलकर खाता हूँ तथा (ख) यह यज्ञ उत्तम अन्नादि की उत्पत्ति से हमारी सम्पत्ति का संवर्धन करता है। ३. इन दो लाभों के अतिरिक्त वायुशुद्धि व रोगकृमि-संहार से नीरोगता होकर हमारा जीवन बड़ा सुखी हो जाता है। मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि इन यज्ञों के द्वारा **स्वः नय**=हमें सुख व स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला हो और **देवेषु गन्तवे**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल। इस यज्ञ से हमारी स्वार्थ की वृत्ति समाप्त होती है और हम आसुरवृत्तियों से ऊपर उठकर दैवीवृत्तियों में विचरणवाले होते हैं। इन दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनकर हम 'देवश्रव' बनते हैं और दिव्य गुणों में गमन के कारण 'देववात' कहलाते हैं। ये ही इस मन्त्र के ऋषि हैं।

भावार्थ—(१) अग्निहोत्र द्वारा हम अकेले न खाकर सहस्रों का भरण करते हैं। (२) इस अग्निहोत्र से अन्नादि की उत्पत्ति के द्वारा हमें सम्पूर्ण धन प्राप्त होता है। (३) वायुशुद्धि व नीरोगता से हमारा जीवन सुखी होता है, हमारा गृहस्थ स्वर्ग बन जाता है। (४) स्वार्थवृत्ति से ऊपर उठकर हम दिव्य गुणों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ के उपकरण

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑।
ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॒र्देवे॑षु॒ गन्त॑वे॥६३॥

१. **इमं यज्ञं नः नय**=इस यज्ञ को हमें प्राप्त कराइए, जो यज्ञ (क) **प्रस्तरेण**=प्रस्तर से उपलक्षित है (युक्त है), स्रुक् की आधारभूत दर्भमुष्टि से युक्त है अथवा आसन से युक्त है (ख) **परिधिना**=जो परिधि से युक्त है, तीन बाहु परिमाण काष्ठों से युक्त है। सम्भवतः ये काष्ठ वेदि की बाड़ के रूप में हैं। चौथी ओर से आगमन-निर्गमनमार्ग होने से इनकी आवश्यकता नहीं है। (ग) **स्रुचा**=यह यज्ञ 'जुहू' आदि यज्ञपात्रों से युक्त है। (घ) **वेद्या**=वेदि से युक्त है। वेदि पर स्थित होकर ही इस यज्ञ का प्रणयन होता है। (ङ)

बर्हिषा=वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ के पूलकों से यह युक्त है और अन्त में (च) **ऋचा**=ऋगादि मन्त्रों से यह उपलक्षित है। मन्त्रोच्चारणपूर्वक ही आहुतियाँ दी जाती हैं। २. **अग्ने**=हे प्रभो! **स्वः नय**=इस यज्ञ के द्वारा हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चल, हमारी स्थिति दिव्य गुणों में हो। ४. प्रस्तरादि सब उपकरणों को जुटाकर यज्ञ करनेवाला यह व्यक्ति स्वार्थ से ऊपर उठकर सभी का मित्र बनता है और 'विश्वामित्र' नामवाला होता है।

भावार्थ—हम यज्ञ के सब उपकरणों को ठीक-ठाक करके यज्ञशील बनें और दिव्य गुणों की वृद्धि करनेवाले बनकर घर को स्वर्ग बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

दान व स्वर्ग

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्त्तं याश्च दक्षिणाः।
तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६४॥

१. दिव्य गुणों का अपने में निर्माण करनेवाला 'विश्वकर्मा' प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि है। यह देवशिल्पी अपने में दिव्य गुणों का निर्माण करता है। यह प्रार्थना करता है कि **यत् दत्तम्**=जब हममें भार्या, पुत्र, माता, भगिनी व भगिनीपति आदि बन्धुओं के लिए उदारता-पूर्वक देने की वृत्ति होती है २. **यत् परादानम्**=और जब परोपकार के लिए दया से दीन, अन्धे आदि के लिए हम आवश्यक वस्तुओं को देते हैं। (३) **यत्पूर्त्तम्**=जब हम लोकहित के लिए वापी, कूप तड़ागादि का निर्माण करते हैं ४. **याश्च दक्षिणाः**=और जब हम ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए यज्ञसम्बन्धिनी दक्षिणाओं को प्राप्त कराते हैं ५. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**=विश्वकर्मा का हितकारी **अग्निः**=वह सब उन्नतियों का साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=सुख में स्थापित करे तथा हमें **देवेषु**=दिव्य गुणों में स्थापित करे, अर्थात् दान की वृत्ति के परिणामरूप हमारे जीवन स्वर्गतुल्य सुखी व दिव्य गुणोंवाले हों।

भावार्थ—हम 'दत्त, परादान, पूर्त्त व दक्षिणा' के रूप में दान देनेवाले हों और अपने जीवनों को सुखी व दिव्य गुणसम्पन्न बना पाएँ।

ऋषिः—**विश्वकर्मा**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

यज्ञ व स्वर्ग

यत्र धाराऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत्॥६५॥

१. **यत्र**=जब **मधोः**=मधुरादि गुणयुक्त सुगन्धित द्रव्यों की **घृतस्य च**=और घृत की **याः**=जो **धाराः**=धाराएँ हैं, वे **अनपेताः**=(न अप इताः) दूर नहीं होती, अर्थात् जहाँ यज्ञों में मधुर हविर्द्रव्यों व घृत की आहुतियाँ निरन्तर पड़ती रहती हैं २. **तत्**=तब **वैश्वकर्मणः**=विश्वकर्मा—यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले देवशिल्पियों का हितकारी **अग्निः**=वह उन्नति-साधक प्रभु **नः**=हमें **स्वः दधत्**=स्वर्ग में स्थापित करे तथा **देवेषु दधत्**=दिव्य गुणों में स्थापित करे।

भावार्थ—जिस घर में निरन्तर मधुर हविर्द्रव्यों तथा घृत से यज्ञ चलते हैं, वहाँ स्वर्ग होता है, दिव्य गुणों की स्थापना होती है।

सूचना—घृत की धाराएँ अनेपत हों, अर्थात् यज्ञ निरन्तर चले। इसमें अवकाश न आ जाए। इसे जरामर्य सत्र समझा जाए। इससे तो तभी छुटकारा होगा जब हम अत्यन्त वृद्ध हो जाएँगे अथवा देह को ही त्याग देंगे।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अग्नि-हविः

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मऽआसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥६६॥

१. पिछले दो मन्त्रों के अनुसार दान व यज्ञों से देवों को (दिव्य गुणों को) अपने में धारण करनेवाला यह 'देवश्रव' बनता है, दिव्य गुणों के कारण यज्ञवाला। दिव्य गुणों के प्रति जाने के कारण यह 'देववात' है। यह निश्चय करता है कि मैं **अग्निः अस्मि**=निरन्तर आगे ही बढ़नेवाला होता हूँ। २. **जन्मना जातवेदाः**=जन्म से ही उत्पन्न ज्ञानवाला बनता हूँ, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही ज्ञानरुचि होने के कारण निरन्तर अध्ययन करता हुआ ज्ञानी बनता हूँ। ३. **मे चक्षुः घृतम्**=मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ 'घृत' होती हैं, अर्थात् 'घृ क्षरण' मलों के क्षरण से (घृ=दीप्ति) अत्यन्त दीप्तिवाली होती हैं। ४. **मे आसन् अमृतम्**=मेरे मुख में अमृत है। मेरे मुख से अमृतमय मधुर वचन ही निकलें। ५. इस प्रकार ज्ञानी व मिष्टभाषी बनकर मैं **अर्कः**=उस प्रभु का सच्चा उपासक होता हूँ। ६. **त्रिधातू**=शरीर, मन व बुद्धि—तीनों का धारण करनेवाला बनता हूँ। मेरा शरीर 'कर्मकाण्ड' को अपनाता है तो मन 'उपासना' को तथा मस्तिष्क 'ज्ञान' को। ७. मैं **रजसः विमानः**=(रजः=कर्म) कर्म का विशिष्ट मानपूर्वक करनेवाला होता हूँ। मेरी आहार-विहार व जागरण-स्वप्न आदि सभी क्रियाएँ युक्त (मपी-तुली) होती हैं। ८. **अजस्रः घर्मः**=इस युक्तचेष्टता के कारण मैं सतत अनुपक्षीण प्राणशक्ति की उष्णतावाला होता हूँ। मुझमें संयम से शक्ति की उष्णता सदा बनी रहती है। ९. **हविः नाम अस्मि**=और अन्त में मैं हवि होता हूँ, सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता हूँ, (हु दानादनयोः) यज्ञशेष को खाता हूँ, प्रभु के 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश का पालन करता हूँ। वस्तुतः यह हविः मेरी सब उन्नतियों का मूल होती है।

भावार्थ—मैं 'अग्नि' बनूँ और अग्नि बनने के लिए 'हविः' होऊँ।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीजगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ऋग्यजुःसाम

ऋचो नामास्मि यजूꣳषि नामास्मि सामानि नामास्मि। येऽअग्नयः पाञ्चजन्याऽअस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव॥६७॥

१. **ऋचः नाम अस्मि**=विज्ञान का अध्ययन करके 'ऋचः' नामवाला मैं हूँ। ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' है। विज्ञान का उच्च अध्ययन करने के कारण 'ऋच' अर्थात् विज्ञान ही मेरा नाम हो गया है। २. इस विज्ञान के अनुसार विविध यज्ञात्मक कर्मों में जीवन का यापन करने से मैं **यजूंषि नाम अस्मि**='यजूंषि' नामवाला हो गया हूँ। ३. ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करके प्रभु का उपासन करनेवाला मैं **सामानि नाम अस्मि**='सामानि' नामवाला हूँ। सामवेद 'उपासनावेद' है। इन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों ने मुझे मूर्त्तिमती उपासना ही बना दिया है। ४. इस प्रकार 'ज्ञान-कर्म व उपासना' का अपने में समन्वय करके यह सचमुच **अग्नि**=जीवन में आगे बढ़नेवाला बना है। यह उन्नत जीवनवाला व्यक्ति सब मनुष्यों का हित करने से 'पाञ्चजन्य' है। इससे अन्य मनुष्य निवेदन करते हैं कि **अस्यां पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **ये**=जो भी **पाञ्चजन्याः**=मनुष्यों का हित करनेवाले **अग्नयः**=प्रगतिशील व कार्य करने में उत्साहवाले व्यक्ति हैं **तेषाम्**=उनमें

त्वम्=तू **उत्तमः असि**=उत्तम है—प्रमुख है। वह तू **नः**=हमें **जीवातवे**=चिरजीवन के लिए **प्रसुव**=प्रेरणा प्राप्त करा। हमें ऐसी प्रेरणा दे कि हम उसके अनुसार जीवन को 'स्वस्थ, सत्यमय व ज्ञानदीप्त' बनाकर दीर्घकाल तक चलनेवाला बना पाएँ।

भावार्थ—मेरे जीवन में 'ज्ञान-कर्म-उपासना' का समन्वय हो। मैं लोकहित करनेवालों में प्रमुख बनूँ। लोगों को उत्तम प्रेरणा देकर उनके सुन्दर व दीर्घ जीवन का कारण बनूँ।

सूचना—मनुष्य के लिए यहाँ 'पाञ्चजन्य' शब्द का प्रयोग है। पाँचों 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय' इन सब कोशों का (जन) विकास करने के कारण वह 'पाञ्चजन्य' कहलाता है। जीवन को उत्तम बनाने के लिए पाँचों को क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु तथा सहस्' से सुभूषित करना है। मन्त्र का ऋषि 'देवश्रवदेववात' लोगों के भले के लिए तेजस्विता आदि के सम्पादन के साधनों का उपदेश देता है। स्वयं तेज आदि का धारण करता हुआ लोगों के लिए क्रियात्मक उदाहरण उपस्थित करता है।

ऋषिः—**इन्द्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

इन्द्र का आवर्तन

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वावर्तयामसि॥६८॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम वाक्य के अनुसार जब व्यक्ति लोकहित के लिए उत्तम प्रेरणा देता है तब उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह स्वयं अपने को पूर्ण जितेन्द्रिय बनाए। इन्द्र बनकर ही वह औरों को इन्द्र बनने के लिए कह सकता है। साथ ही इन्द्र बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह सब असुरों का संहार करनेवाले महान् इन्द्र (प्रभु) का स्मरण करे। प्रस्तुत मन्त्र में उसी प्रभु-स्मरण (प्रभुनाम-जपन) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाले प्रभो! **त्वावर्तयामसि**=हम आपका आवर्तन करते हैं, आपके नाम का जप व अर्थभावन करते हैं। आपके निजनाम 'ओम्' का जप व चिन्तन करते हुए हम वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाते हैं। २. **वार्त्रहत्याय**=(वृत्रं हन्यते येन) जिससे कि हम वृत्र का हनन कर सकें। हमारे ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासना ही 'वृत्र' है। आपके नाम-स्मरण से हम इस वृत्र का विनाश करनेवाले बनते हैं। ३. **शवसे**=(शव गतौ, शवस्=बल) क्रियाशीलता व क्रियाशीलता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति के लिए हम आपका स्मरण करते हैं। प्रभु-स्मरण हमें प्रभु के समान ही स्वाभाविकी क्रिया करनेवाला बनने की प्रेरणा प्राप्त कराता है, उस क्रिया को अपनाकर हम बल का सम्पादन करते हैं, **च**=और ४. **पृतनाषाह्याय**=शत्रु-सेनाओं के पराभव के लिए हम जप करते हैं। प्रभु को हृदयस्थ करके हम हृदयक्षेत्र से वासनासमूह को दूर भगा देते हैं। इन वासनाओं के पराभव के लिए हम समर्थ होते हैं। इन आसुरी वृत्तियों का संहार करके हम सचमुच प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'इन्द्र' बनते हैं।

भावार्थ—हम निरन्तर प्रभु के नाम का आवर्तन करें। इन्द्र के आवर्तन से इन्द्र बनें, जिससे कि (क) हम वृत्र का विनाश कर सकें। (ख) क्रियाशीलता के द्वारा बल का सम्पादन करनेवाले हों तथा (ग) शत्रु-सेनाओं का पराभव कर पाएँ।

ऋषिः—**इन्द्रविश्वामित्रौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वृत्र

सहदानुम्पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्द्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥६९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीव प्रभु के नाम का आवर्तन करते हुए कहता है कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों की विजय करानेवाले प्रभो! **सहदानुम्**=(दाप् लवने) बल का लवन (छेदन) करनेवाले, **क्षियन्तम्**=बल के नाश से हमारा नाश करनेवाले **कुणारुम्**=(कणयति=रोदयति) दुर्गति के द्वारा रोदन करानेवाले और अन्त में **पियारुम्**=(पियतिर्हिंसाकर्मा) सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देनेवाले **वर्द्धमानम्**=निरन्तर बढ़ते हुए **वृत्रम्**=इस ज्ञान के आवरक कामरूप वृत्र का हे **पुरुहूत**=पालन व पूरण करनेवाली पुकारवाले प्रभो! आप **अहस्तम्**=हस्तरहित करके—हननशक्तिशून्य करके **संपिणक्**=पीस डालते हैं तथा **अपादम्**=पादों व गति से शून्य करके **तवसा**=बल के द्वारा **अभिजघन्थ**=सम्यक् समाप्त कर देते हैं। २. यह वासना ज्ञान पर परदा डालनेवाली होने से 'वृत्र' है। यह हमारे बल का छेदन कर देने से 'सहदानु' है! क्षयकारिणी होने से 'क्षियन्' है। अन्त में बुरी भाँति रुलानेवाली होने से 'कुणारुम्' है। सब दैवी वृत्तियों को समाप्त कर देने से यह 'पियारु' है। सदा बढ़ने व फैलनेवाली होने से 'वर्धमान' है। ३. प्रभु के नाम का स्मरण हममें बल उत्पन्न करता है, और उस **तवस्**=बल से इस वृत्र की हननशक्ति को समाप्त कर देता है, इस वृत्र को 'अहस्त' कर देता है। (हन् से हस्त=Hand)। प्रभु के नाम-स्मरण से यह वासना 'अपाद'-गतिशून्य हो जाती है, मानो इसके पाँव ही नहीं रहते। ४. इस प्रकार वे प्रभु सचमुच 'इन्द्र' हैं, हमारे इन कामादि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। वे प्रभु 'पुरुहूत' हैं, उनको पुकारना हमारा पालन व पूरण करता है।

भावार्थ—प्रभु नाम-स्मरण से हमारी वासना हाथ-पाँव से रहित होकर विनष्ट हो जाए। वासना हमारा हनन करनेवाली न हो, हमारे हृदयक्षेत्र से उसकी चहल-पहल दूर चली जाए।

ऋषिः—**शासः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कुचलना Trampling upon

वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
योऽअस्माँ२॥ऽअभिदासत्यधरं गमया तमः ॥७०॥

१. गतमन्त्र का ऋषि इन्द्र काम-क्रोधादि आसुरवृत्तियों का संहार करके सब पापों से अपने को बचानेवाला (विश्व-मित्र) विश्वामित्र बना था। यह अपने पर पूर्णरूप से शासन करनेवाला होने से 'शास' कहलाता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करके ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **मृधः**=(murder) हत्या करनेवाले इन कामादि शत्रुओं को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कर दीजिए। २. **पृतन्यतः**=हमारे साथ संग्राम की इच्छावाले इन शत्रुओं को **नीचा यच्छ**=नीचा दिखाइए। इन्हें हमारे पाँव तले रौंद दीजिए। ३. इन वासनारूप शत्रुओं में **यः**=जो भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इहलोक व परलोक दोनों ओर से (अभि) नष्ट करना चाहता है (दस् उपक्षये) उसे आप **अधरम् तमः**=पाताललोक के अन्धकार को **गमय**=प्राप्त कराइए। ये वासनाएँ पाताल में ही कैद-सी

रहें। इनका निवास तो असुर्यलोकों में ही ठीक है। हमारे साथ इनका क्या सम्बन्ध? इनमें फँसकर तो हम भी उन असुर्यलोकों में ही घसीटे जाएँगें, अतः हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं इन वासनाओं से अभिभूत होकर नष्ट न हो जाऊँ।

भावार्थ—हम वासनाओं को नष्ट करके उन्हें पूर्णरूप से वशीभूत करके अपने 'शास' नाम को यथार्थ करें।

ऋषिः—**जयः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जय

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावतऽआजगन्था परस्याः।
सृकꣳसꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व ॥७१॥

१. गतमन्त्र का 'शास'=अपने पर शासन करनेवाला शत्रुओं पर विजय पाता है और 'जय' नामवाला होता है। यह जय **मृगः**=(मृग अन्वेषणे) आत्मान्वेषण करनेवाला होता है। इस आत्मालोचन से यह 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' में छिपकर ठहरे हुए कामादि को ढूँढकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है। २. **न भीमः**=अपनी कमियों को जानने के कारण ही यह भयंकर नहीं होता, इसे अभिमान व क्रूरता आदि दोष आक्रान्त नहीं करते। ३. **कुचरः**=यह सदा पृथिवी पर विचरनेवाला होता है, घमण्ड के कारण आकाश में नहीं उड़ता, डींगें नहीं मारता (Does not build castles in the air)। ४. **गिरिष्ठाः**=सदा वेदवाणी में स्थित होता है—वेदोपदिष्ट मार्ग से चलता है। ५. **परावतः परस्याः**=दूर-से-दूर देश से भी **आजगन्थ**=लौट आता है। इसका जो मन सुदूर देशों में भटका होता है, उस मन को यह वहाँ से वापस ले-आता है, 'प्रत्याहार' की साधना करता है। ६. **सृकम्**=(सृ-कं) गति में आनन्द को **संशाय**=(तीक्ष्णीकृत्य) बढ़ाकर, अर्थात् गति में, क्रियाशीलता में अधिक-से-अधिक आनन्द लेता हुआ **इन्द्र**=हे जीवात्मन्! ७. **पविम्**=अपने को पवित्र बनाने की भावना को **तिग्मम्**=तीव्र व ज्ञान से दीप्त करके, अर्थात् पवित्रता व ज्ञान को मिलाकर तू **शत्रून्**=इन कामादि शत्रुओं को **विताढि**=हिंसित कर तथा **मृधः**=इन हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=अपने से सुदूर धकेल दे।

भावार्थ—कामादि शत्रुओं को जीतने के लिए आवश्यक है कि हम (क) आत्मालोचन करें (मृगः), (ख) कल्पनाओं में न उड़ते रहकर पृथिवी पर विचरनेवाले बनें (कुचरः), (ग) 'गिरिष्ठा' बनें—वेदवाणी के अनुकूल चलें, (घ) क्रियाशीलता में आनन्द लें (सृकम्), (ङ) पवित्रता को ज्ञानदीप्त करें (पविं तिग्मम्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वैश्वानरः, विश्वामित्रः

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्रयातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुपं॥७२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'जय'=विजेता बनकर 'विश्वामित्र'=सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **परावतः**=दूर देश से **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **आ प्रयातु**=सर्वथा समीप देश में प्राप्त हो। अज्ञानवश जब हम प्रभु से दूर होते हैं, तब हमें भय आदि प्राप्त होते हैं तथा काम-क्रोधादि शत्रुओं के हम वशीभूत हो जाते हैं। ज्ञान होने पर हम उस प्रभु

को अपने हृदय में अनुभव करते हैं, उससे हमें जहाँ अभय प्राप्त होता है, वहाँ हम काम-क्रोधादि के शिकार नहीं होते। २. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों का साधक वह प्रभु **सुष्टुतीरुप**=हमसे की गई शोभन स्तुतियों के द्वारा (सुष्टुतिभिः) **नः**=हमारे **उप**=समीप उपस्थित हों। वे प्रभु हमारे रक्षक हों। यदि थोड़ा-सा विचार किया जाए तो इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हों, परन्तु यह होगा तभी जब (क) हम भी उस प्रभु की भाँति ही 'वैश्वानर' बनें। सभी का हित करनेवाले हों इस भावना को अपनाकर ही हम मन्त्र के ऋषि 'विश्वामित्र' होंगे। प्रभु की रक्षा का पात्र बनने का (ख) दूसरा साधन 'अग्नि' बनना है। हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना हो। (ग) इस आगे बढ़ने के उद्देश्य से हम प्रभु की उत्तम स्तुति करनेवाले बनें (सुष्टुती)। इन स्तुतियों से हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि उत्पन्न होगी। यह लक्ष्य आँख से ओझल न होगा तो हम निरन्तर आगे बढ़ते चलेंगे।

भावार्थ—(क) हम सब प्राणियों के हित की भावना से कार्यों में प्रवृत्त हों। (ख) हममें आगे बढ़ने की प्रवृत्ति हो। (ग) प्रभु के उत्तम स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जिज्ञासु भक्त

पृष्टो दिवि पृष्टोऽअग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वाऽओषधीराविवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टोऽअग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम्॥७३॥

१. गतमन्त्र में कहा गया था कि 'प्रभु हमें रक्षा के लिए समीपता से प्राप्त हों'। प्रस्तुत मन्त्र में उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **सः**=वे प्रभु **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसा से **पातु**=बचाएँ। वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करें। २. ये प्रभु वे हैं जो **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर (प्रच्छ जिज्ञासायां) **दिवि**=द्युलोक में, दीप्त होनेवाले सूर्य में दिखते हैं। ३. वे **अग्निः**=सारे संसार के अग्रेणी प्रभु **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर **पृथिव्याम्**=(प्रथ विस्तारे) अन्तरिक्षलोक में अन्तरिक्षस्थ चन्द्र व मेघ आदि में दृष्टिगोचर होते हैं। ४. **पृष्टः**=जिज्ञासित होने पर वे प्रभु **विश्वा ओषधीः आविवेश**=सब ओषधियों में प्रविष्ट दिखते हैं। इन विविध ओषधियों में उस सवितादेव की महिमा प्रकट होती है। ५. वे **वैश्वानरः अग्निः**=सब मनुष्यों के सञ्चालक (विश्वान् नरान् नयति) प्रभु **सहसा**=सहस् के द्वारा, बल के द्वारा **पृष्टः**=जिज्ञासित होते हैं। प्रभु का दर्शन निर्बलों को नहीं होता **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। ६. इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु के जिज्ञासु भक्त का वर्णन है। सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन करनेवाला यह व्यक्ति विलास से बचकर शक्ति का सञ्चय कर पाता है, इसमें सहनशीलता होती है। अपने इस 'सहस्' से ही यह प्रभु का प्रिय होता है। 'तेज' से 'शरीर की शोभा' प्राप्त होती है, 'वीर्य' से 'नीरोगता व दीर्घजीवन' का लाभ होता है, 'बल व ओज' से सफलता प्राप्त होती है, ज्ञान (मन्यु) से पवित्रता तथा प्रभु की ओर चलने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और अन्त में 'सहस्' से 'प्रभु की प्राप्ति' होती है। इसकी रक्षा में हम सब बुराइयों का संहार करनेवाले 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) बनते हैं, इस मन्त्र के ऋषि होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के जिज्ञासु भक्त बनेंगे तो धीमे-धीमे सर्वत्र हमें उस प्रभु की महिमा दिखेगी।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु-रक्षण के चार लाभ

अश्याम॒ तं काम॑मग्ने॒ तवो॒तीऽअश्याम॑ र॒यिꣳर॑यिवः सुवी॒र॑म्।
अश्याम॒ वाज॑म॒भि वा॒जय॑न्तो॒ऽश्याम॑ द्यु॒म्नम॑जरा॒जर॑ं ते ॥७४॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि वे प्रभु दिन-रात हमारी रक्षा करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि उस रक्षण से क्या होता है? सबसे प्रथम बात तो यह है कि हे **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक प्रभो! **तव ऊती**=आपके रक्षण से हम अपनी **तं काममम्**=उस-उस कामना को **अश्याम**=प्राप्त करें, जिस कामनावाले कि हम आपसे प्रार्थना करें **'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु'**। एवं, प्रभु-रक्षण का प्रथम लाभ यह है कि हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। २. हे **रयिवः**=सब धनों के स्वामिन्! हम **सुवीरम् रयिम्**=उत्तम वीरता को प्राप्त करानेवाले धन को **अश्याम**=प्राप्त करें। प्रभु के स्तवन से अलग होकर प्राप्त किया गया धन हमें विलास की ओर ले-जाकर वीरता से रहित करता है। प्रभु-स्मरण के साथ धन हमारी शक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। ३. हे प्रभो! आपके रक्षण में **वाजयन्तः**=(संग्रामयन्तः) कामादि वासनाओं के साथ संग्राम करते हुए हम **वाजम्**=शक्ति को **अभि अश्याम**=समन्तात् प्राप्त करें। वासनाओं को जीतने से शरीर में बल आएगा तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि भी दीप्त होगी। इस प्रकार **अभि**=दोनों क्षेत्रों में—शरीर व आत्मा के क्षेत्र में हम बलवान् होंगे। प्रभु की रक्षा में ही हम इस वासना-संग्राम में विजयी बन पाएँगे। ४. हे **अजर**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! हम **ते**=आपकी **अजरम्**=कभी भी जीर्ण न होनेवाली **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योति को **अश्याम**=प्राप्त करें, **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। ५. इस प्रकार मन्त्रार्थ से स्पष्ट है कि प्रभु रक्षण से सब इच्छाओं की पूर्ति तथा धन-प्राप्ति के साथ मनुष्य वीर बनता है। वासनाओं को जीतकर वह शरीर को ही सबल नहीं बनाता अपितु अपने मस्तिष्क को भी सशक्त करके प्रभु की अजर ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करता है। 'वाज' शब्द बल व ज्ञान' दोनों अर्थ रखता है, अतः यह अपने में बल व ज्ञान को भरनेवाला 'भरद्वाज' कहलाता है। यह 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण से हम १. अपनी इष्ट कामनाओं को सिद्ध करनेवाले बनें। २. वीरतायुक्त धन के स्वामी हों, ३. वासनाओं के साथ संग्राम करके उनके विजय से शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान को भरनेवाले हों, ४. हम उस अजर प्रभु की ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अपनी इच्छा को प्रभु-इच्छा में

व॒यं ते॑ऽअ॒द्य र॑रि॒मा हि काम॑मु॒त्ता॒नह॑स्ता॒ नम॑सोप॒सद्य॑।
यजि॑ष्ठेन॒ मन॑सा यक्षि दे॒वान॒स्रेध॑ता॒ म॑न्म॒ना॒ विप्रो॑ऽअग्ने॥७५॥

१. पिछले मन्त्र में कहा था कि प्रभु-रक्षण से सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि प्रभुभक्त अपनी कामना को प्रभु की कामना में मग्न (merge) कर देता है, उसकी वही इच्छा होती है जो प्रभु की इच्छा हो। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा को समाप्त कर देता है। आज यह अपने को उस उत्=उत्कृष्ट प्रभु के साथ कील=बाँधनेवाला बनकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'उत्कील' बनता है और कहता है कि **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान

करनेवाले हम (वञ्=तन्तुसन्ताते) **अद्य**=आज **कामम्**=अपनी इच्छा को **ते ररिमा**=तेरे प्रति दे डालते हैं, हमारी इच्छा आज से वही है जो आपकी। २. आपके प्रति अपना अर्पण करके हम उद्यम को नहीं छोड़ देते, **उत्तानहस्ता**=हम कर्मों में उत्कृष्टता से हाथों का विस्तार करनेवाले होते हैं (उत्+तन्), अर्थात् हमारे हाथ सदा उत्कृष्ट कर्मों में व्याप्त रहते हैं ३. इन कर्मों को हम **नमसा उपसद्य**=नम्रता से आपकी उपासना करते हुए करते हैं। हम कर्म करते हैं, परन्तु इस बात को भूलते नहीं कि यह सब आपकी ही शक्ति है और हम उस शक्ति से होनेवाले कार्यों के माध्यममात्र हैं, अतः हम कर्मों को करते हैं, परन्तु उन कर्मों का गर्व नहीं करते। ४. उल्लिखित संकल्पवाले 'उत्कील' को प्रभु प्रेरणा देते हैं कि **यजिष्ठेन मनसा**=अधिक-से-अधिक देवपूजा की वृत्तिवाले, सबके साथ स्नेह व मेल की भावनावाले तथा दान की वृत्तिवाले **यज्**=(क) देवपूजा (ख) संगतिकरण (ग) दानवाले मन से **देवान्**=दिव्य गुणों को **यक्षि**=अपने साथ सङ्गत कर। यजिष्ठ मन से हममें दिव्य गुणों का वर्धन होता है। ५. हे **अग्ने**=प्रगतिशील उत्कील! तू **अस्त्रेधता**=(इतस्ततो गमनरहितेन स्थिरेण-द०) सुपथगामी **मन्मना**=मनन से **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला बन। प्रभु के अनन्य चिन्तन से मनुष्य का जीवन शुद्ध व शक्तिशाली बनता है। हमारी सब कमियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—(क) हम अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में मिला दें। (ख) नम्रता से प्रभु का उपासन करते हुए उत्कृष्ट कर्मों में हाथों को व्यापृत रक्खें। (ग) यजिष्ठ मन से अपने जीवन को देवों से सङ्गत करें, दिव्य गुणों से पूर्ण करें। (घ) प्रभु का अनन्य चिन्तन करते हुए अपनी सब न्यूनताओं को दूर करके अपना उत्तम पूरण करें।

ऋषिः—**उत्कीलः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

तेजस्विता का रक्षण

धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः।
सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे॥७६॥

१. गतमन्त्र का 'उत्कील' ऋषि ही प्रार्थना करता है कि **अग्निः**=दोषदहन व प्रकाश की देवता अग्नि, **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला प्रभु, **ब्रह्मा**=सारे ब्रह्माण्ड का निर्माण व वर्धन करनेवाला प्रभु, **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु तथा **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति वह प्रभु **धामच्छत्**=हमारे तेज का छादन व रक्षण करनेवाला हो। प्रभु की कृपा से मेरा जीवन हीनाकर्षण से दूर होकर उत्कृष्ट बन्धनवाला हो। मैं विलास से सदा बचा रहूँ और अपने तेज को विनष्ट न होने दूँ। २. इस तेजस्विता की रक्षा के लिए मैं 'अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, देव व बृहस्पति' का उपासक बनूँ। अग्नि का उपासक बनकर (अगि गतौ) क्रियाशील बनूँ और अपने दोषों का दहन करूँ। 'इन्द्र' का उपासक बनकर जितेन्द्रिय बनूँ और असुरों का संहार करनेवाला होऊँ। 'ब्रह्मा' का उपासक बनकर हृदय को (बृहि वृद्धौ) विशाल बनाऊँ और निर्माणात्मक कार्यों में लगाये रक्खूँ। 'देव' का उपासक बनकर मैं दान की वृत्तिवाला बनूँ, ज्ञान से चमकूँ तथा औरों के लिए ज्ञान की दीप्ति देनेवाला बनूँ। 'बृहस्पति' का उपासक मैं सम्पूर्ण वेदज्ञान का पति बनने का प्रयत्न करूँ। ये उपासनाएँ ही मेरे तेज की रक्षा करेंगी। मुझे निम्न मार्ग से हटाकर सचमुच 'उत्कील'=उत्कृष्ट बन्धनवाला बनाएँगी। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सचेतसः**=(चेतसा सह) उत्तम संज्ञान से युक्त अथवा (समानं चेतो येषाम्) समान ज्ञानवाले, एक ही विचारवाले

विश्वेदेवाः=सब देव **नः**=हमारे **शुभे**=शुभ के निमित्त (शुभ्+क्विप्=शुभ) जीवन में हमें शुभ-ही-शुभ प्राप्त हो, इसके लिए **यज्ञं प्रावन्तुः**=हममें यज्ञिय भावना की प्रकर्षेण रक्षा करें। हम यज्ञशील हों और यज्ञ से हम समृद्ध जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम 'अग्नि' आदि के उपासक बनकर अपनी तेजस्विता का रक्षण करें। ज्ञानियों से यज्ञ की प्रेरणा प्राप्त करके हम शुभ का साधन करें।

ऋषिः—**उशनाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उशना की प्रार्थना

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥७७॥

१. गतमन्त्र का उत्कील 'तेजस्विता की रक्षा' व यज्ञिय वृत्ति' के द्वारा प्रभु-प्राप्ति की कामना करनेवाला होने से 'उशनाः' नामवाला होता है। यह प्रभु की आराधना करता है कि **यविष्ठ**=हमारे दुर्गुणों को अधिक-से-अधिक पृथक् करनेवाले तथा सद्गुणों का हमारे साथ सम्पर्क करानेवाले प्रभो! (यु=मिश्रण व अमिश्रण) **त्वम्**=आप **दाशुषः**=आपके प्रति अपने को दे डालनेवाले, अपना अर्पण करनेवाले **नॄः**=हम लोगों को **पाहि**=रक्षित कीजिए। हमें दुर्गुणों से दूर व सद्गुणों के समीप करके हीनावस्था से बचाइए। २. **गिरः शृणुधी**=हमसे आप स्तुति-वाणियों को ही सुनिए, अर्थात् आपकी कृपा से हम ज्ञान से परिपूर्ण इन स्तुति-वाणियों को ही बोलनेवाले हों। हमारे मुख से कभी कोई अशुभ शब्द न निकले। ३. **उत**=और हे प्रभो! आप **त्मना**=स्वयं **तोकम्**=आपका पुत्र जो मैं हूँ उसकी **रक्ष**=रक्षा कीजिए। मैं आपका भजन करूँ आप मेरी रक्षा करें। आपकी कृपा से ही मैं आपका सुपुत्र बन पाऊँगा और आपका रक्षणीय होऊँगा। मेरी कामना है कि मैं आपको प्राप्त कर पाऊँ। ४. आपकी प्राप्ति के लिए (क) अधिक-से-अधिक अवगुणों को दूर करके सद्गुणों को प्राप्त करूँ (यविष्ठ) (ख) आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ (दाशुषः)। (ग) मेरे मुख से ज्ञान व स्तुति की उत्तम वाणियाँ ही उच्चरित हों (गिरः) (घ) मैं आपका सुपुत्र बनूँ (तोकम्)।

भावार्थ—प्रभु यविष्ठ हैं। दाश्वान् की रक्षा करते हैं। हमें चाहिए कि ज्ञान व स्तुति वाणियों का ही उच्चारण करें और प्रभु के सुपुत्र बनें।

सूचना—इस अन्तिम मन्त्र में उशनाः (प्रभु की प्राप्ति की कामनावाला) प्रभु का सुपुत्र बनना चाहता है। प्रभु का सुपुत्र वही हो पाता है जो इस मानव-जीवन में सोम की रक्षा के द्वारा अपने जीवन को ठीक परिपक्व करता है तथा सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तान को जन्म देकर 'प्रजा-पति' बनता है। इस 'प्रजापति' ऋषि के मन्त्र से ही अगले अध्याय का प्रारम्भ होता है—

॥ इत्यष्टादशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥